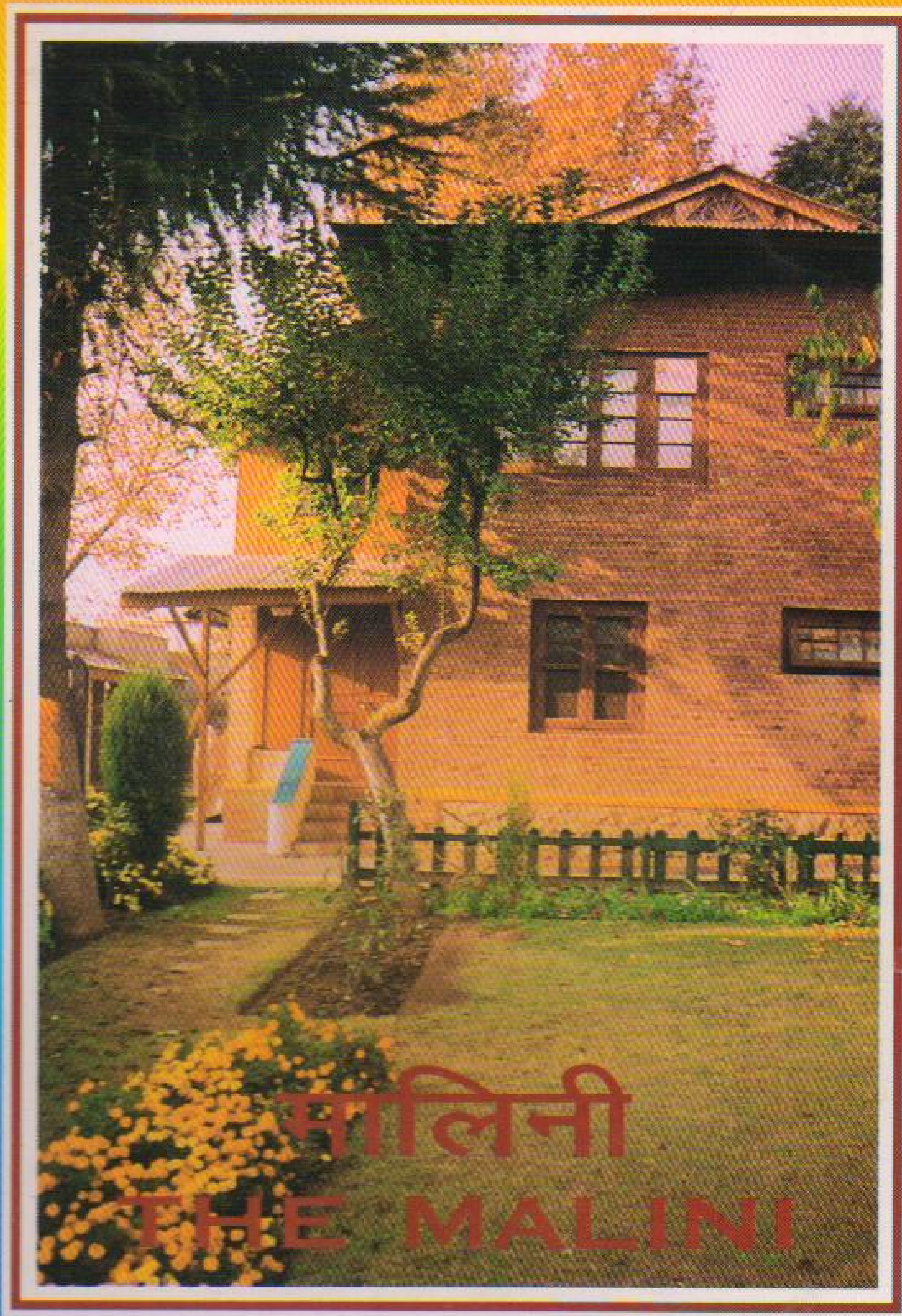
OCTOBER, 1998





ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Vol. IV NO. 3 ISSUE XIV
OCTOBER, 1998



मालिनी
THE MALINI

Abhinavagupta about Mālinī

यन्मयतयेदमखिलं, परमोपादेयभावमभ्येति।
भवभेदास्त्रं शास्त्रं, जयति श्रीमालिनी देवी॥

Śrī Mālinī Devī is ever victorious. In union with her all the treatises of non-dualistic order achieve the nature of divine potency.

T.A.A. XXXVII

ISHWAR ASHRAM TRUST
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Board of Trustees :
Sri Inderkrishan Raina
(Secretary/Trustee)
Sri Samvit Prakash Dhar
Sri Brijnath Kaul
Sri Mohankrishan Wattal

Editorial Board :
Sushri Prabhadevi
Prof. Nilakanth Gurtoo
Prof. Makhanlal Kukiloo
Sri Somnath Saproo

Sri Brijmohan
(I.A.S. Retd.) Co-ordination

Publishers :
Ishwar Ashram Trust
Ishber (Nishat), Srinagar
Kashmir.

Administrative Office :
2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180 002.
Tel. : 555755

Branch Office :
Ishwar Ashram Trust
F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044
Tel. : 6943307

October, 1998
Price : Rs. 15.00

© Ishwar Ashram Trust

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust
by Paramount Printographics, Daryaganj, New Delhi-2. Tel 328-1568, 327-1568

ॐ नमः परमसंविद् चिद्रूपुषे

विषय सूची : Contents

संपादक की लेखनी से

मालिनी के चौथे वर्ष का अन्तिम अंक बड़े उत्साह के साथ पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए हमें असीम प्रसन्नता हो रही है। चार वर्षों की इस अवधि में मालिनी का यह उपवन छोटे बड़े सुरभित पुष्पों से जिस तरह सुगन्धित रहा उसका श्रेय हमारे पाठकों, प्रेमियों और भक्तगणों को ही है। यह ठीक है कि निर्माणाधीन उपवन को संवारने संभालने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तथापि उपवन के प्रेमियों ने, संस्कृति-सौन्दर्य के अनिच्छुक तथा उपवन प्रगति के विरोधी तत्त्वों का डटकर मुकाबला किया और इस उपवन के सौन्दर्य पर किसी प्रकार की आंच आने न दी। पर इस तथ्य को हमें नकारना न होगा कि ऐसे उपवन का अस्तित्व प्रकृति प्रेमी परमेश्वर की इच्छा के बिना सम्भव नहीं है। अतः ईश्वरस्वरूप सद्‌गुरु महाराज की दयादृष्टि जब तक इस उपवन पर रहेगी तब तक इस उपवन का घास का तिनका भी अपने स्थान से नहीं हटेगा। कोई-न-कोई ऐसा रास्ता सदा निकला करेगा जिसके माध्यम से हम आगे बढ़ते रहेंगे और उलझी हुई समस्याओं को सदा सुलझा सकेंगे। ईश्वरस्वरूप की दयादृष्टि हमारे लिए वह उमंग है जो हमारी आत्मशक्ति और प्राणशक्ति को जागृत करती है, जीवन के प्रारम्भिक पड़ाव से अन्तिम पड़ाव तक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, तथा आसक्ति के भाव को क्षीण कर आध्यात्मिकता के क्षेत्र को भी उन्नत करती है। जीवन के रहस्य को समझने के लिए तथा बार-बार जन्ममरण के बन्धन से मुक्ति के लिए सद्‌गुरु की दयादृष्टि ही मार्ग निर्देशन करती है। इसी से हमारे कुसंस्कारों का, तथा पाप, अज्ञान और दारिद्र्य का क्षय होता है, समस्त अशुद्धियां मिट जाती हैं, पशुभावना का प्रशमन हो जाता है, अविद्या का समस्त अंधकार तिरोहित हो जाता है, आत्मा पर पड़ी अशुद्धियों की धूल समाप्त हो जाती है, और आत्मा का निर्मल सत् चित् आनन्द स्वरूप आभासित होने लगता है। सद्‌गुरु दयादृष्टि के ही परिणामस्वरूप मानव शरीर में प्रसुप्त अनन्त ज्ञान, शक्ति व आनन्द जागृत हो उठता है, और सभी सुखों का उपभोग वास्तविक रूप से करने की क्षमता आती है। जीवन की सभी बाधायें एवं परेशानियां समाप्त होती हैं, सम्पूर्ण जीवन में परिवर्तन आता है। वास्तव में सद्‌गुरु की कृपादृष्टि सागर की विशालता है, सभी तत्त्वों का मूल तत्त्व है, साकार और निराकार शक्तियों से परे है, अद्वितीय व अनिर्वचनीय विभूति का अजस्र प्रवाह है। हमें समाहित मन से आत्ममंथन करके सदा इस दृष्टि का मनन और निदिध्यासन करना चाहिए ताकि सद्‌गुरु महाराज हमारी दृष्टि से कभी ओझल न हो जायें।

मालिनी के जुलाई अंक के प्रकाशन से लेकर आज तक ईश्वर आश्रम ट्रस्ट के तीनों केन्द्रों

(अर्थात् श्रीनगर, जम्मू और दिल्ली), ने जिस अनन्य भाव और लगन से ईश्वर आश्रम सम्बन्धित सेवा कार्य संपन्न किया वह उल्लेखनीय है। सितम्बर मास में सद्गुरु महाराज की निर्वाण जयन्ती तीनों केन्द्रों ने धूमधाम से मनायी और महायज्ञ तीनों केन्द्रों पर रचा गया जिनमें भारी संख्या में भक्तों, प्रेमियों और सद्गुरु शिष्यों ने सम्मिलित होकर महोत्सव की शोभा बढ़ाई। ईश्वर आश्रम के श्रीनगर स्थित प्रधानकार्यालय के पदाधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं जो इस समय भी आश्रम स्थित जीर्णशीर्ण बने हुए रसोईघर के नव निर्माण कार्य में लगे हुए हैं। आशा है कि विपरीत परिस्थितियों के होते हुए भी चार पांच लाख की अनुमानित धनराशि से सम्पन्न होने वाला यह रसोईघर व सभागार सद्गुरु महाराज की जन्मजयन्ती तक आप सब महानुभावों के सहयोग से परिपूर्ण होगा। श्रीनगर स्थित ईश्वर आश्रम के प्रेमियों ने इस महान् कार्य को हाथ में लेकर सद्गुरु महाराज के प्रति अपनी अटूट निष्ठा और अनन्य भाव को अभिव्यक्त किया है। सद्गुरु महाराज की दया से उनका यह कार्य शीघ्र सम्पन्न हो।

इस अंक से हम विज्ञान भैरव की अंग्रेजी व्याख्या आरम्भ कर रहे हैं। यह व्याख्या स्वामी जी महाराज ने अपने पाश्चात्य शिष्यों व अन्य इच्छुक भक्तों के आग्रह पर लगभग ढ़ाई दशक पूर्व की थी। यह व्याख्या अनूठी है। इसमें अनुभव के आधार पर गूढ़ रहस्यों को सरलशैली में समझाया गया है। आजतक अनछुए ये रहस्य न केवल साधकों का उपकार करेंगे अपितु गवेषणात्मक वृत्ति के जिज्ञासुओं की जिज्ञासा को भी शान्त करेंगे। प्रस्तुत व्याख्या की प्रति सुश्री प्रभादेवी जी के सौजन्य से हमें मिली जिसके लिए हम उनके परम आभारी हैं। हमें आशा है कि देवीजी अपने पास सुरक्षित रखे हुए सद्गुरु महाराज के अनमोल व्याख्या रत्नों से 'मालिनी' के कल कण्ठ को इसीतरह से सुशोभित करती रहेंगी। यहां यह लिखना असमीचीन नहीं होगा कि हिन्दी भाषा में भी हमने इस अमूल्य ग्रन्थ का अनुवाद स्वामी जी महाराज, की इसी अंग्रेजी व्याख्या के आधार पर मालिनी के गत वर्ष के जुलाई अंक से आरम्भ किया था, जिससे साधकों, भक्तों व साधारण जनता को बहुत लाभ हो रहा है।

पिछले अंक में हमने पाठकों को इस तथ्य से अवगत कराया था कि दिल्ली विकास प्राधिकरण की ओर से ईश्वर आश्रम ट्रस्ट कश्मीर को दक्षिण दिल्ली में आश्रम भवन के लिए लगभग चार सौ मीटर भूमि मिलने वाली है। आप लोगों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि स्वीकृति देने वाले प्रशासनिक विभाग ने इसकी स्वीकृति दी है और अब सद्गुरु महाराज की कृपा से विधिवत् स्वीकृतिपत्र शीघ्र ही हमें मिलेगा। हमें आशा है कि आप सब महानुभावों के आशीर्वाद से सद्गुरू महाराज की आगामी जन्मजयन्ती तक आश्रमभवन साकार हो उठेगा जिससे दिल्ली वासियों की चिरकालिक मनोकामना सफल होगी।

हम अपने पाठकों से निवेदन करते हैं कि मुद्रण सामग्री आदि के बढ़ते दामों को लक्ष्य में रखकर नये वर्ष से 'मालिनी' की प्रत्येक प्रति बीस रुपये की होगी। पूरे वर्ष के लिए डाक व्यय के बिना, ८० रुपये (अस्सी रुपये) की राशि प्रशासनिक कार्यालय जम्मू / दिल्ली भेजकर कृतार्थ करें। असुविधा के लिए क्षमा प्रार्थी।

मुक्त हस्त आर्थिक अनुदान देने वाले दानियों से सविनय निवेदन है कि ईश्वर आश्रम ट्रस्ट के लिए दिया हुआ उनका आर्थिक अनुदान आयकर सीमा–८०-जी-१९६१ अनुच्छेद के अन्तर्गत आयकर से मुक्त समझा जायेगा।

सारे ईश्वराश्रम परिवार को दीपावली की शुभकामनायें

जय गुरुदेव

अक्टूबर १९९८ *प्रो० मखनलाल कुकिलू*



MALINI - Quarterly Magazine

Annual Subscription : Rs. 80.00

Price Per Copy : Rs. 20.00

Overseas Subscription : US$25.00

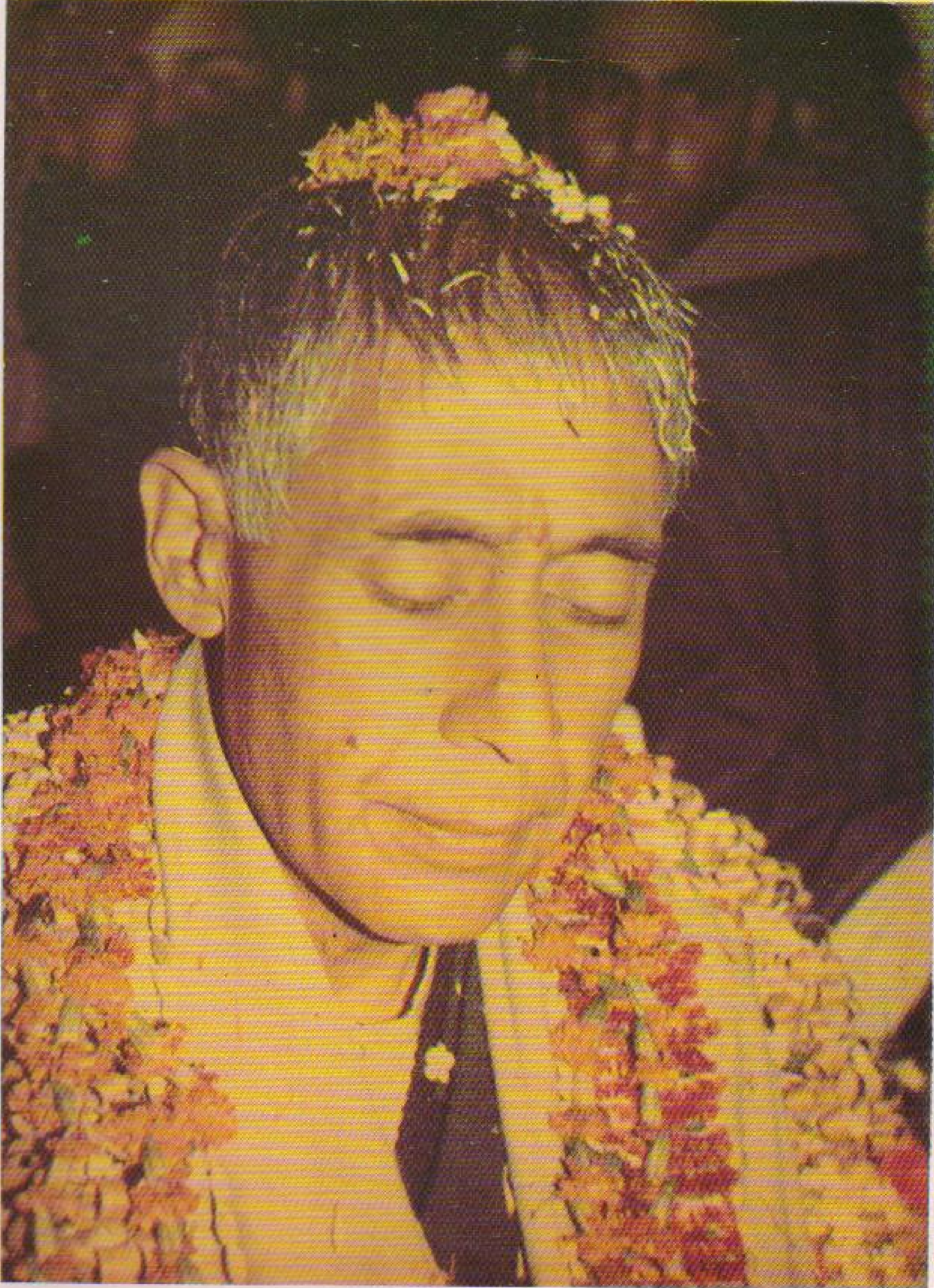
All correspondence & subscription must be sent to Administrative Office :

2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180002.

Information regarding printing & publishing etc. can be had from

ISHWAR ASHRAM TRUST
F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 44.

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज



आविर्भावदिवस	महासमाधिदिवस
9-5-1907	27-9-1991

ŚIVA SŪTRAS
with Vimarśinī Sanskrit Commentary of Śri Kṣemarāja

VI

Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Māharāj

(Continued from last issue)

अथ एतत् बन्धप्रशमोपायं उपेयविश्रान्ति सतत्त्वं आदिशति–अथ–now, एतत्–this, बन्ध–bondage, प्रशम–vanishing, उपायं–means, उपेय विश्रान्ति सतत्त्वं–make you rest with the desired state of God Consciousness, आदिशति–teaches.

Now in the next Sūtra the author puts forth here the essence of the means for the removal of the bondage brought about by the limited knowledge, and taking you to the desired state of God-consiousness.

उद्यमो भैरवः॥ ५॥
Udyamo Bhairavaḥ

उद्यमः–the sudden emergence of consciousness, is भैरवः–Bhairavaḥ.

There are two kinds of effort. One is passive effort and another is active effort. Here we are concerned with active effort. Active effort is elevating effort which throws out inactive consciousness. That active effort is Bhairavaḥ, because that active effort carries you to Bhairava state.

योऽयं प्रसरत् रूपायाः विमर्शमय्याः संविदो झगिति उच्छलनात्मक–पर प्रतिभोन्मज्जन-रूपः उद्यमः स एव सर्वशक्तिसामरस्येन अशेष विश्वभरितत्त्वात् सकलकल्पनाकुल अलं कवलनमयत्वात् च भैरवः भैरवात्मक स्व स्वरूप अभिव्यक्ति हेतुत्वात् भक्तिभाजाम्–अन्तर्मुखैतत्तत्त्वावधानधनानां जायते, इत्युपदिष्ट भवति। उक्तं च श्रीमालिनीविजये–

अकिंचित् चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः॥ इति।

अत्र हि 'गुरुणा प्रतिबोधतः' इत्यत्र गुरुतः स्वस्मात् प्रतिबोधतः इत्यस्य अर्थः गुरुभिः आदिष्टः। श्रीस्वच्छन्देऽपि उक्तम्–

आत्मनो भैरवं रूपं भावयेत् यस्तु पूरुषः।
तस्य मन्त्राः प्रसिद्ध्यन्ति नित्ययुक्तस्य सुन्दरि॥ इति।

भावनं हि अत्र अन्तर्मुख उद्यन्तृतापद विमर्शनं एव। एतत् च

एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यात् अपरोदयः।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत्॥

इत्यनेन संगृहीतम्॥

योऽयं उद्यमः–that active effort is, भैरवः–Bhairava, which प्रसरत् रूपायाः–expands in the form of, the whole universe, विमर्शमय्याः संविदः–that I consciousness of Śiva, झगिति–abruptly in one flight, उच्छलनात्मक–Springing up परप्रतिभा–Supreme Knowledge of being, स एव–that active effort (उद्यमः) is भैरवः–Bhairava, सर्वशक्ति सामरस्येन–because all energies are directed and digested in each other in one energy, and also, अशेष–the whole, विश्व–universe, भरितत्वात्–is filled with that energy (स्वातन्त्र्यशक्तिः) and, सकल–all, कल्पनाकुल–differentiated perceptions-thinkings, अलं–as much as, कवलनमयत्वात्–He completely devours within Himself, भैरवात्मक स्व स्वरूप अभिव्यक्ति हेतुत्वात्–the means for revealing Bhairava who is one's own essential self, भक्तिभाजां–in real devotees, अन्तर्मुखैतत्तत्त्वावधान धनानां–whose consciousness is always introverted in awareness of God-consciousness, जायते–is found, इति उपदिष्टं भवति–this has been taught in this Sūtra. उक्तं च श्री मालिनीविजये–it is said in Mālinīvijaya Tantra also—

अकिंचित् चिन्तकस्यैव–who has freed his mind of all thoughts and impressions, गुरुणा प्रतिबोधतः–by the elevating power of spiritual master, यः समावेश जायते–which penetative state of trance is found, असौ शाम्भवः उदीरितः–that is called Śāmbhavaḥ Samāveśa. (शाम्भवः समावेश)

अत्र हि–here in this verse, गुरुणा प्रतिबोधतः–by the elevating power of master, इत्यत्र–herein, इत्यस्य अर्थः–the meaning of these words, गुरुभिः–by our master, आदिष्टः–has been explained like this also that, गुरुतः–स्वस्मात् प्रतिबोधतः–by one's own great awakening.

श्रीस्वच्छन्देऽपि उक्तम्–It has been said in Śrī Svacchanda Tantra also-

सुन्दरि ! –Oh Pārvatī, यस्तु पूरुषः –the one who भावयेत्–contemplates, आत्मनो रूपं–on his own self, भैरव–as one with Bhairava, तस्य–to him, मन्त्राः=all mantras, प्रसिद्ध्यन्ति–are found successful, because नित्ययुक्तस्य–he is always one with that awareness of consciousness.

अत्र–here in this verse, भावनं–the word भावन means, अन्तर्मुख उद्यन्तृतापद विमर्शनमेव–to meditate on active state of elevating Consciousness. एतत् च इत्यनेन संगृहीतम्–this has also been explained in the following verse of Spandakārikā.

एकचिन्ता प्रसक्तस्य–when one is engrossed in one thought, अपरोदयः स्यात्–and another arises, उन्मेषः तु–that is उन्मेषः–revelation of the self or that is Spanda, स्वयं तं उपलक्षयेत्–you must know that yourself, because the source or junction of both these two thoughts is unmeṣa (उन्मेष).

That active effort, that takes you abruptly in one flight to your consciousness and makes shine the supreme knowledge of being and which is a sudden flash of that I consciousness of Śiva which expands in the shape of whole universe, is Bhairava. He holds in Himself all energies, because all energies are directed and digested in each other in one energy, also the whole world is filled with that energy and all differentiated perceptions and thoughts He completely devours within Himself. It is found that this active effort (उद्यमः) is the means for revealing Bhairava, who is one's own essential self, to those real devotees whose consciousness is always introverted in awareness of God-consciousness. It is said in Śrī Mālinīvijaya Tantra that when you have freed your mind of all thoughts and impressions by your master's grace that penetrative state of trance is called Śāmbhava-Samāveśa. It is that when once it shines before you there is no way to astray from it because you are digested in it by the elevating power of master. When you are capable of keeping away all thoughts and impressions yourself then your master will carry you otherwise not.

In Svacchanda Tantra also it has been said that Oh Pāravati! the one who contemplates on his ownself as one with Bhairava, to him all mantras attain perfection because he is always one with that awareness of consciousness. Here in this verse 'Bhāvana' means to meditate on active state of elevating consciousness. This has also been explained in the following verse of Spandakārikā:- Take one thought, contemplate on that, do not go to other thoughts. The another moment that comes in your thought that is उन्मेष (unmeṣa) the revelation of the true nature of self, that is Spanda. That you must know yourself).

एवं झगिति परप्रतिभा उन्मेष अवष्टम्भ उपायिकां भैरव समापत्तिं अज्ञानबन्धप्रशमैक हेतुं प्रदर्श्य; एतत्परामर्श प्रकर्षाद् व्युत्थानमपि प्रशान्तभेदावभासं भवति इत्याह–

शक्तिचक्र संधाने विश्वसंहारः॥ ६॥

(Śakticakra sandhāne viśvasaṁhāraḥ)

एवं–thus, झगिति–in one instant, परप्रतिभा–supreme consciousness, उन्मेष–the emergence of, अवष्टम्भउपायिकां–by taking hold of, भैरवसमापत्तिं–establishment in Bhairava, अज्ञानबन्ध प्रशमैक हेतुं–sure means of destroying three fold bondages on account of ignorance, प्रदर्श्य–after showing, एतत्–when this, परामर्श–Śiva consciousness, प्रकर्षात्–by the intensity of, व्युत्थानमपि–external state of directive consciousness, प्रशान्तभेदावभासं भवति–it absolves the non-duali[illegible] consciousness, इत्याह–now says in the following sūtra–

शक्तिचक्रसंधाने–when one establishes and meditates on the wheel of energies of Lord Śiva, विश्वसंहारः–the whole external universe of dualistic spirit or state, takes an end or it ends for good.

Thus it is already explained how after taking hold of Supreme consciousness in one instant, one attains the establishment in Bhairava, by which he destroys threefold bondages. How by the intensity of this meditation this external state of directive consciousness absolves in non-dualistic consciousness? This is explained in the following Sūtra—

When he establishes and meditates on the wheel of energies of Lord Śiva the whole external universe of dualistic state ends for good.

योऽयं परप्रतिभा उन्मज्जनात्मा उद्यन्तृतास्वभावः भैरव उक्तः अस्यैव अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्ट्यात्मतया निःशेष शक्तिचक्रक्रमाक्रामा क्रामिणी अतिक्रान्त क्रमाक्रमातिरिक्तारिक्त तदुभयात्मतयापि अभिधीयमानापि अनेतद्रूपा अनुत्तरा परा स्वातन्त्र्यशक्तिः काप्यस्ति। यया स्वभित्तौ मह्युल्लासात् प्रभृति परप्रमातृविश्रान्त्यन्तं श्रीमत्सृष्ट्यादि शक्तिचक्रस्फारणात्मा क्रीडेयं आदर्शिता। तस्यैतत् आभासितस्य शक्तिचक्रस्य रहस्याम्नायाम्नात नीत्या यत्संधानं–यथोचित क्रमविमर्शनं, तस्मिन् सति; कालाग्न्यादेः चरमकेलान्तस्य विश्वस्य संहारः–देहात्मतया बाह्यतया च अवस्थितस्यापि सतः परसंवित् अग्निसात् भावो भवति इत्यर्थः।

योऽयं–this already explained भैरवः परप्रतिभा–highest summit of the full I-consciousness of Śiva. उन्मज्जनात्मा–sudden flash of, उद्यन्तृतास्वभावः–the nature of an emergence of awareness भैरवः उक्तः–Bhairava is found together with परा स्वातन्त्र्यशक्तिः–the highest Svātantrya Śakti—full freedom of doing and knowing every and anything, अन्तर्लक्ष्य–fully aware of its inner nature, बहिर्दृष्ट्यात्मतया–is engaged in activity externally, निःशेष–the entire, शक्तिचक्र–group of its Śaktis, क्रम–in the form of succession, अक्रम–and non-succession आक्रामिणी–seizing, अतिक्रान्त–in the surpassing of both क्रम–succession and अक्रम–non-succession, अतिरिक्त–being greatly empty, अरिक्त–of being not empty, तदुभयात्मतयापि–or in the form of both empty and fully, अभिधीयमानापि–is described in various above said forms, अनेतद्रूपा–She is not any of these forms, अनुत्तरा–unparallelled, काप्यस्ति–some one is, यया–by Svātantrya Śakti, स्वभित्तौ–on her own screen, मह्युल्लासात् प्रभृति–from the earth, परप्रमातृविश्रान्त्यन्तं–upto rest in the highest Experient, श्रीमत्सृष्ट्यादि क्रीडेयं–this play of manifestation etc., शक्तिचक्रस्फारणात्मा–in the form of expansion of the Śakti etc; आदर्शिता–displayed. तस्यैतत् आभासितस्य–of this group of Śaktis which has been made evident, रहस्याम्नाय–in the secret Śāstras, आम्नातनीत्या–according to the proper way as described, यत्संधानं–the union by awareness, then कालाग्न्यादेः– from Kālāgni चरमकलान्तस्य – to the ultimate kalā i.e. from Nivrati Kalā to Śanta-tītā Kalā विश्वस्य संहारः — the whole universe is destroyed, i.e. देहात्मतया — although it is individually found, बाह्यतया — externally, अवस्थितस्यापि — found परसंवित् — or found in your own awareness, अग्निसाद्भावो भवतीत्यर्थः — it is reduced to oneness with the fire of consciousness.

This already explained Bhairava, who takes you to the highest summit of the full I-consciousness of Śiva, is of the nature of an emergence of awareness. He has the highest Svātantrya Śakti, with which though in know of internal nature is externally engaged in activity. In that state you have to establish yourself inside the successive and non-successive means of all collective energies residing in Bhairava. There is only one flight. In fact there is no successive way of meditation or non-successive way of meditation. By this, whole play of creation is found in Āṇava (आणव), protection is found in Śākta (शाक्त), and destruction is found in Śāmbhava

(शाम्भव). This kind of play is played by Svātantrya Śakti. In that state of Svātantrya Śakti you have not to meditate in successive or in non-successive way. It is Anupāya (अनुपाय), not Śāmbhava, even it is beyond that. At the same time these energies are not there yet these states exist there. By the energy of Lord Śiva's Svātantrya Śakti this whole play of creation, protection and destruction, this kind of play is played right from earth to Parapramātṛbhāva (परप्रमातृभाव) i.e. from earth upto rest in the highest experient. He meditates on collective class of energies of Lord Śiva, that is found only in Svātantrya Śakti. When Sandhāna (संधान) of this totality of energies has been made evident according to the way of the secret Śāstras then this dualistic universe right from Kālāgni to the ultimate Kalā is destroyed, although it is individually found, externally found, or found in your own awareness one feels that this whole universe becomes one with that.



A Peep into Vijñāna Bhairava

Translated by
Īśvara Svarūpa Lakṣmaṇa Joo Mahārāj

This *Vijñāna Bhirava*, is a chapter in the *Rudra-yāmala Tantra*. Another chapter in the *Rudra-yāmala Tantra* is *Parātrīśikā*. This chapter embodies the Bhairava point of view. It is neither *Rudra-Śāstra,* nor is it *Śiva-Śāstra*. This is *Bhairava-Śāstra*, which is purely monistic.

श्रीदेव्युवाच

Śrī devī uvāca:

श्रुतं देव मया सर्वं रुद्रयामलसम्भवम्।
त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः॥ १॥
अद्यापि न निवृत्तो मे संशयः परमेश्वर।

śrutaṃ deva! mayā sarvaṃ rudra-yāmala-sambhavam
trika-bhedam-aśeṣeṇa sārāt-sāra-vibhāgaśaḥ.
adyāpi na nivṛtto me saṃśayaḥ parameśvara.

1. The Goddess said: O God, I have already heard the essence of the Trika school of thought in its entirety, which has originated from the Rudrayāmala (Tantra) along with its subdivisions, but even now, O Supreme Lord, my doubts are not fully removed.

Oh Lord, I have already heard the essence of the threefold school of thought, *aśeṣena:* entirely, *rudra-yāmala-saṃbhavam* that has come forth from the *Rudrayāmala Tantra*, or which has originated from the union of Bhairava and Bhairavī.

You can translate this both ways:

Outcome of the union of two energies: the Lord and Pārvatī; or *Rudra-yāmala Tantra*. By finding out the realiy of thought as *trika*, that is

sārāt-sāra-vibhāgaśaḥ:

adyāpi na nivṛtto me saṃśayaḥ:

I have already heard from you but my doubts are still not cleared.

किं रूपं तत्त्वतो देव शब्दराशिकलामयम्॥ २॥

किं वा नवात्मभेदेन भैरवे भैरवाकृतौ।
त्रिशिरोभेदभिन्नं वा किं वा शक्तित्रयात्मकम्॥ ३॥

नादबिन्दुमयं वापि किं चन्द्रार्धनिरोधिकाः।
चक्रारूढमनच्कं वा किं वा शक्तिस्वरूपकम्॥ ४॥

kiṃ rūpaṃ tattvato deva śabda-rāśikalāmayam.
kiṃ vā navātma-bhedena bhairave bhairavākṛtau
triśiro-bheda-bhinnaṃ vā kiṃ vā sákti-trayātmakam.
nāda-bindumayam vāpi kiṃ candrārdha-nirodhikāḥ
cakrārūḍham-anackaṃ vā kiṃ vā śakti-svarūpakam.

2. O God, what is in reality the essential nature which consists of the energies of the collection of letters (phonemes)?

3. And how does it reside in the form of Bhairava according to the Bhairava (Tantras) in a ninefold division (of mantras)? How is it differentiated in a divinity with three heads? And how does it consist of three Energies?

4. How does it contain *nāda* and *bindu*, and how does it contain (the higher centres of energy) *ardhacandra* (half-moon) and *nirodhikā* (obstruction)? Or (does it reside) in the vowel-less *(mantra)* within the movement of the *cakras*?

Oh Lord, dear one, what is the real essence of the way we have to tread *(kiṃ rūpaṃ tattvato deva)*? This line forms a complete sentence. *Tattvato* means in reality, in real essence. Is this the way of *śabda-rāśi-kalā*? The way we have to journey from *'a'* to *'kṣa'* and return from *'kṣa'* to *'a'* again? Is this the way? She (Pārvatī) puts this question.

kiṃ śabda-rāśi-kalāmayam tattvam?
kiṃ vā navātma-bhedena?

The journey of the nine states from the first state to the second and so forth, upto the ninth and then back again to 'a'. Is this the way? She puts this question to Lord Śiva.

The nine states *(tattvas)* are as follows: The first state is *prakṛti*, the

original source of the material world. *Puruṣa* is the individual soul who moves in that material world, which is the second. The third are the *kañcukas*-5 coverings of *puruṣa*. The *kañcukas* are *kalā, vidyā, rāga, kāla* and *niyati*. The fourth state is *māyā*. *Māyā* is the personified Free Will of *kriyā-svātantrya*. There is a difference between *prakṛti* and *māyā*. *Prakṛti* is the original source of the material world, whereas *māyā* is the personified will of the Supreme Lord, the Supreme Self. This is the difference between *māyā* and *prakṛti*. Otherwise the function of *prakṛti* is the same as the function of *māyā*. *Prakṛti, puruṣa, kañcukas* and *māyā* - these are four *tattvas*. Then you have to move again in the pure state of knowledge, i.e. *śuddha-vidyā* [fifth]. The pure state of knowledge and action, that is *Īśvara* [sixth]. Establishment in knowledge and action, that is *Sadāśiva* [seventh]. Universal energy is Śakti [eighth] and its holder is Śiva [ninth]. These are the nine states, *navātma-bheda*. When you keep before you the theory of letters, then those letters are *h, r, kṣ, m, l, v, y, ṇ, ūṃ (ṇūṃ)* respectively. These are *navātma-bheda* from the mantric point of view.

You have to cross these states, you have to tread on this field of *mantra*, the field of states, from *prakṛti* to *Śiva* and back to *prakṛti* with His glory. When you tread from *prakṛti* you are not glorified, but when you return from Śiva you are glorified with garlands, with haloes and Śiva thought and everything. Everything comes with you.

Is this the way of *navātma*? Bhairava means in Bhairavāgamas. *Bhairavākṛtau* means for entering in the state of Bhairava, or for entering in the form [true nature] of Bhairava. Or:

triśiro-bheda-bhinnaṃ vā
kiṃ vā śakti trayātmakam?

Or just as in the Triśiro-Bhairava (it is a Bhairavāgama which is not extent) it is said you must tread on the three energies. From *aparā* to *parāparā*, from *parāparā* to *parā*, and then return again parāparā to aparā. This is the reality of the journey in Śaivism.

Is that the way? This is the question of the Devī.

nāda-bindumayaṃ vāpi
kiṃ candrārdhanirodhikāḥ?

Or is this the way that one has to travel from *nāda* to *bindu*, from *bindu* to *ardhacandra*, from *ardhacandra* to *nirodhikā*, from *nirodhikā* to *nādānta*, then *Śakti*, then *vyāpinī* and then *samanā*. Is this the way? Then tell me clearly what is the real way I have to travel?

Nāda means, first you have to begin travelling from *nāda*. *Nāda* is *a*, *u*, and *m*. *Akāraśca, ukāraśca, makāraḥ*. This is *nāda*. Then comes *bindu*. One-pointed perfection in the movement of breath, while reciting this *mantra 'om'*, that is *bindu*. Then *ardhacandra*. *Ardhacandra* is that state of movement of *oṃkāra* where there is no breath. Breath stops there. Then *nirodhikā*, the establishment of the stoppage of breath. There is apprehension in *ardhacandra* of breathing again. But in the *nirodhikā* state there is no question of breathing. *Nirodhikā* is complete establishment of the state without breath. Then comes the state of *nādānta*, the entrance in the soundless state of sound.

The establishment of aham is Śakti in the state of supreme oneness, then *vyāpinī* and *samanā*. Is this the way?

cakrārūḍham-anackam vā kim vā śakti-svarūpakam?

Or you have to travel in the realm of that universal energy which is moving at such a velocity that immobility takes place, i.e. *anackam*. *Anackam* means without movement and soundless. *Cakrārūḍham* means in the wheel of movement. So is that *svarūpa* of energy, the way to get established in that state?

This is the question of Pārvatī.

Anacka means where there is no *aca: svara* [vowel-less consonant]. You cannot utter it. You can't express it in words.

There one reaches a state where you are going so fast that you become motionless. When the speed [of the rising Energy] reaches such velocity that it becomes motionless.



Abhinavagupta's Contribution to Śaivism

Dr. B.N. Pandit

Abhinavagupta, one of the most prominent authors of Kashmir Saivism, was a descendant of Atrigupta, a great scholar of Kannuaj, whom king Lalitaditya invited to live in Kashmir in the eighth century A.D. Atrigupta was not a Vaisya, as the surname would suggest, but was a Brahmin of a high rank as he has been mentioned by Abhinavagupta as a prāgrya-janma. An administrative officer, governing one hundred villages, was designated in ancient times as a goptā (from goptṛ). Some ancestor of Atrigupta was such a prominent goptā that his family was subsequently known by such surname. Viṣṇugupta, the great cāṇakya and Brahmagupta, the great astronomer, were both Brahmins having such surname. The word 'gupta' in this context, is just a distorted form of the world 'goptā'. Many great scholars and teachers appeared in Kashmir in the family of Atrigupta. Vasugupta the discoverer of Śiva Sūtras, and Lakṣmaṇagupta a teacher of Abhinavagupta, may have risen from the same family as no other Kashmirian family of scholars under such name has so far came to light. Narasimhagupta and Varāhagupta, both great scholars and saints, were respectively the father and the grand-father of Abhinavagupta. His mother Vimlakalā was a yogini. Manohargupta was his younger brother and a favourite disciple. His other prominent disciples were Karṇa, Mandra, Vatsalikā and Amitā. Some other disciples mentioned by him in his Tantrāloka include his five cousins named Kṣemagupta, Utpalagupta, Abhinavagupta II, Cakragupta and Padmagupta. But none among all such favourite disciples of the great teacher, except Abhinava, the author of Tantra-vaṭa-dhānikā, a work of minor importance, pursued any remarkable academic activities of writing books or commentaries. His only disciple who showed sufficient interest and ability in such activity was Kṣemarāja, who is different from Kṣemagupta and who may have belonged to a family from which sprung scholars like Bhūtirāja, Ādityarāja, Indurāja etc. But it is a wonder that Kṣemarāja's name has not been mentioned by the great teacher in any of his available works. It is possible that Kṣemarāja could not have won the favour of his preceptor on account of his being over-conscious about the superiority of his intelli-

gence which may have amounted to egoism not appreciable in the case of a scholar-saint. Abhinavagupta had many teachers and preceptors from whom he picked up many secrets of different Śāstras. The greatest of his preceptors was Śambhunātha of Kaṅgrā whom he refers at least twentytwo times in his Tantrāloka and from whom he expresses the greatest regard in several important works on philosophy and theology. Abhinavagupta belonged to the later part of the tenth and the earlier part of the eleventh century A.D. The year of composition, given by him in three of his works, corresponds with 990, 992 and 1014 respectively.

Abhinavagupta wrote on subjects like dramaturgy, literary criticism, logic, etc. in addition to Śaivism on which he is the final authority in both, the theory and practice. He interpreted correctly and clearly the philosophic principles and theological doctrines of Kashmir Śaivism through his commentaries and independent works. It is in fact he who popularized Kashmir Śaivism by writing detailed and elucidative commentaries on the works of Somānanda and Utpaladeva. As a commentator and interpreter, he did not leave any stone unturned in the field of the philosophy of Śaiva monism. Besides, he is the only author who arranged, systematized and interpreted the highly esoteric and mystic doctrines of Śaiva theology lying scattered in the vast scriptural literature of Śaiva Āgamas. In addition to these two difficult and colossal tasks, he made the Śaiva philosophy easy to be understood even by beginners through some small and big but easy works that can even now serve as text-books at the M.A. (Sanskrit) level. In addition to it, he composed several easy religio-philosophic lyrics dedicated to Śiva and Śakti. Such lyrics throw a wonderful light on some highly mysterious points of spiritual philosophy.

His most important commentaries and independent works:

1. Īśvara-pratyabhijñā of Utpaladeva is the most important work on the philosophy of Kashmir Śaivism. Such a work would not have become fully intelligible and could not have attained so much popularity if Abhinavagupta had not explained the principles contained in it through his detailed commentary named Vimarśinī. No scholar other than him could have done such a difficult task so efficiently as he did it.

2. Utpaladeva had written himself a brief but scholarly commentary on his Īśvarapratyabhijñā. It was known either as Tīkā or as Vivṛti. The scholarly discussions on many topics contained in it were of a very high standard of learning. But, unfortunately, none of its manuscripts has become available so far. Abhinavagupta wrote a voluminous commentary in the from of detailed notes explaining the scholarly philosophic ideas of Utpaladeva expressed in that Vivṛti. That commentary has been published by the State Government in three big volumes, but cannot be of sufficient use to scholars for want of the original text of the Vivṛti which it elucidates. The commentary is known as Īśvarapratyabhijñā-vivṛti vimarśini.

3. Abhinavagupta wrote commentaries on three smaller works of Utpaladeva. Those commentaries have unfortunately been lost. Two of them have been quoted by Maheśvarānanda in his Mahārtha-mañajri-parimala. Such commentaries are his Vimarśinis on (i) Ajaḍa-pramātṛ-siddhi, Īśvara-siddhi and Sambandha-siddhi.

4. A highly lamentable loss is the disappearance of his commentary named Ālocana on Śivadṛṣṭi. Had the Ālocana of Abhinavagupta been available, Śivadṛṣṭi would have become as much popular with scholars as Īśvarapratyabhijñā.

5. Another lamentable loss is that of Krama-keli, his commentary on Kramastotra of Siddhanātha, dealing with a superior type of Trika yoga termed as Kalinaya or Kramanaya.

6. Parātrimṣakā is a small scriptural work dealing with some highly esoteric doctrines of practice of the Trika system. Abhinavagupta's detailed commentary named Vivaraṇa on it throws light on many of such esoteric practices expressed very often through the method of mysticism. It is thus one of the most important works on the theology of the Trika system of Śaivism.

7. The most important original work of Abhinavagupta is Tantrāloka. It contains the essence of all the scriptural works of monistic Śaivism. Esoteric doctrines of Trika Yoga, lying scattered in the Trika scriptures and expressed there through a highly mystic method,

were collected, compiled, arranged in a proper order, systematized philosophically and expressed in a lucid style by Abhinavagupta in that voluminous work. All the relevant principles of philosophy have also been discussed there, side by side, by the great author. Besides, the work deals with all the important rituals of the Trika system through a philosophic method and contains thus a finer theological study as well. It is in this way a unique work on the practical side of spiritual philosophy and throws immense light on many obscure and mystic topics of Śaivite Sādhanā through a philosophic method and style.

8. Tantrasāra of Abhinavagupta is just a summary of his Tantrāloka written in lucid prose style. It is very often simpler and clearer than the latter but lacks in the details of the subject.

9. One more highly important and independent work of Abhinavagupta is his Mālinī-vijaya-vārtika dealing with the esoteric doctrines of theoretical and practical aspects of Śaiva monism as expressed mystically in the Malinī-vijayottara tantra of the Trika system. This work discusses in detail many principles and doctrines of a highly profound character. Such an important work should have been explained by some scholars in the line of the disciples of Abhinavagupta. The work, though of very high academic merit, has not so far become sufficiently popular for want of such elucidative commentary. Kṣemarāja should have tried his pen on such a work instead of the simple Tantric scriptures like Svacchanda and Netra Tantras.

10. Abhinavagupta had composed another such work on the previous (pūrva) portion of Mālinī-tantra. It was known as Pūrva-pañcikā. He had written some other such Pañcikās, referred by him, on practical Śaivism. But all of them have been lost.

11. Ādiśeṣa had written a philosophic work named Paramārtha-sāra at a time when theistic Sāṃkhya, Vaiṣṇavism and Upaniṣadic Vedānta had not yet developed as distinctly separate schools of philosophy. Abhinavagupta was attracted by its merits of clear and accurate expression. He liked it but did not approve of its Vaiṣṇavite charac-

ter. So he revised it, gave it a Śaivite form and presented it to readers as a good text book of monistic Śaivism useful for beginners. It can serve even now as a good text book of Kashmir Śaivism at the level of M.A. Sanskrit and M.A. Philosophy.

12. Some other easy and brief text books and some philosophic poems written by Abhinavagupta for the sake of beginners are:

    (i) Bodhapañcadaśikā dealing with the very fundamental principles of the philosophy of Kashmir Śaivism.

    (ii) Paramārthacarcā, a brief work that can serve as an aid in the Jñānadīkṣā of the Trika Yoga of the highest type.

    (iii) Anuttarāṣṭikā, a small work of the same character as above.

    (iv) Anubhava-nivedana-stotra, a philosophic lyric describing the Yogic experiences attainable through the practice of some esoteric mudrās.

    (v) Bhairavastotra, a beautiful religio-philosophic lyric expressing the view of a perfect yogin towards life, death, misery etc.

    (vi) Dehastha-devata-cakra-stotra explaining an important element of monistic ritual worship of the Lord.

    (vii) Kramastotra discussing in detail the mystic doctrines of Kāliyoga as prevalent among the adherents of Kashmir Śaivism.

In addition he wrote many minor works on Śaivism which have been lost and composed several important works on some other subjects like dramaturgy, literary criticism, logic and so on.

Abhinavagupta alone could explain correctly the works of Somānanda and Utpaladeva as he was equally advanced in yogic attainments and scholarship. He alone could write works like Tantrāloka, Mālinī-vijaya-vārtika and Parātriṃśakā-vivaraṇa, because as a saint-scholar he possessed the highly valuable merits listed below:

(i) He had the deepest direct realization of the principles of the monistic Śaiva philosophy of Kashmir.

(ii) He had sufficient experience in the practice of the highest methods of yoga of both of Trika and the Kula systems.

(iii) He possessed a very sharp intelligence capable to form a correct conceptual understanding of the truth experienced through a non-conceptual direct realization.

(iv) He had complete command over language and could express rightly and clearly whatever he experienced and understood.

(v) He was a master of logic and mimāṃsā and could therefore discuss topics of philosophy with great efficiency.

(vi) He knew the secrets of the theories of all the schools of thought and succeeded in examining them critically in a convincing manner.

(vii) He lived a long life resulting in a high maturity in experience, thought and expression and could render an immensely valuable service to more than one prevalent subjects of study.

It is a pity that all except one of his disciples were interested only in the tasteful experiences of self-realization and did not, consequently, develop any remarkable active interest in academic pursuits with the result that many of his very important works remained unexplained and unelucidated. Even Kṣemarāja, who is proud of his being the disciple of Abhinavagupta, did not touch any of his works. He wrote commentaries on Śivasūtra, Spandaśāstra, some Tāntric works and some philosophic poems, but did not take up the task of explaining the works of greater importance written by his master. The duty of commenting upon Tantrāloka fell down upon Jayaratha a hundred years after Ksemarāja. Īśvarapratyabhijñā-vimarśini was explained by Bhāskara-kaṇtha by the close of the eighteenth century. Some other important works of that great author of Kashmir Śaivism are still lying unexplained. Śiva alone knows as to who will be so fortunate as to write notes on them.

(Extracts from 'History of Kashmir Śaivism'
*by **Dr. B.N. Pandit**)*



SADGURU AṢṬOTTARAŚATANĀMĀVALĪ

Composed by
Prof. Makhanlal Kukiloo
Translated by Sh. Samvit Prakash Dhar

तुभ्यं नमामि गुरु लक्ष्मणाय
(Tubhyam namāmi Guru Lakṣmaṇāya)
O Guru Lakṣmaṇa, to seek thy favour
I offer my obeisance to you.

१. ईश्वरस्वरूपाय श्रीलक्ष्मणाय
(Īśvara Svarūpāya Śrī Lakṣmaṇāya)
The Lord Incarnate, Śrī Īśvara Svarūpa
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

२. नारायणाय काक आत्मजाय
(Nārāyaṇāya kāka Ātmajāya)
Your Father, Sri Narayan Dass, was also known as Kak
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

३. अरिणीसुताय 'कतिजी' प्रियाय
(Ariṇīsutāya katijī priyāya)
Darling of Kataji, Arni's son
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

४. महताबकाकस्य शिष्योत्तमाय
(Mahatābakākasya Śiṣyottamāya)
Peerless disciple of Sri Mehatabkak
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

५. श्री रामदेवस्य च वल्लभाय
(Śri Rāmadevasya ca Vallabhāya)
Grand Master Rama's favourite most
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

६. महादेव शैले कृतसंश्रयाय
(Mahādeva śaile kṛtasaṃśrayāya)

You chose to live on Mount Mahādev
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

७. मासि वैशाखे बहुले भवाय
(Māsi Vaiśākhe bahulebhavāya)

In the dark fortnight of the month of Vaishakha hailed you forth
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

८. एकाधिकेशतिथि संभवाय
(Ekādhikeśa tithi Sambhavāya)

On the twelfth day of dark fortnight you blessed this land
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

९. शिष्य प्रियाय भयहारकाय
(Śiṣya priyāya bhayahārakāya)

Very dear to disciples You dispel their fears
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१०. "लालंसअब" नाम्ना उपकारकाय
(Lālasaaba nāmnā upakārakāya)

Addressed as Lalsaib, You shower favours
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

११. प्रद्युम्न पीठस्य महेश्वराय
(Pradyumna pīṭasya Maheśvarāya)

The Supreme Lord of the Throne of Śārika
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१२. सर्वान्तरस्थाय भूतेश्वराय
(Sarvāntarasthāya bhūteśvarāya)

Being Bhūteśvara (the sweetheart of Mahārājñī) You dwell in all
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१३. अमराभिवन्द्याय अमरेश्वराय
(Amarābhivandyāya Amareśvarāya)

Adored by the Immortals, You are Amareśvara of Amarnath cave
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१४. ज्वालेष्टदेव्या हि दत्ताभयाय

(Jvāleṣṭa devyā hi dattābhayāya)

You have been adorned with fearlessness by your family deity Jvāla (Goddess of fire)
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१५. देवाधिदेवाय भवान्तकाय

(Devādhidevāya bhavāntakāya)

Being Supreme lord of lords, You bring the world to naught
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१६. संवित्स्वरूपाय विलक्षणाय

(Samvitsvrūpāya vilakṣaṇāya)

Possessor of Supreme Consciousness, amazing Thou art
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१७. हृत्पद्मसूर्याय विश्रान्तिदाय

(Hṛtapadma Sūryāya viśrāntidāya)

You are the Sun blooming the lotus heart of seekers bestowing eternal peace
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१८. समस्त शैवागम पारगाय

(Samasta Śaivāgama pāragāya)

You transcend all the Śaivāgamas
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१९. प्रसन्नधामामृत मोक्षदाय

(Prasannadhāmāmṛta mokṣdāya)

You liberate us with the nectar from Thy Abode of Bliss
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

२०. रम्याय हृद्याय परन्तपाय

(Ramyāya hṛdyāya parantapāya)

Endearing to the heart, Pleasing O Valorous One
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

२१. स्तोत्राय स्तुत्याय स्तुतिकराय

(Stotrāya stutyāya stutikarāya)

Thou art Praise, Praised and Praiser one
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

२२. आद्यन्तहीनाय नरोत्तमाय

(Ādyantahīnāya narottamāya)

Without beginning and any end,
Thou art the best among everyone
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

२३. शुद्धाय शान्ताय सुलक्षणाय

(Śuddhāya śāntāya sūlakṣaṇāya)

Pure and Serene, Thou Virtuous One
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

२४. आनन्दरूपाय अनुत्तराय

(Ānandarūpāya Anūttarāya)

Bliss Absolute, Thou Peerless One
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

२५. अजाय ईशाय सर्वेश्वराय

(Ajāya Īśāya sarveśvarāya)

Master of all, Lord, born of none
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

२६. भीमाय रुद्राय मनोहराय

(Bhīmāya rudrāya manoharāya)

The terrifying Rudra, yet the beautiful One
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

२७. हंसाय शर्वाय दयामयाय

(Haṃsāya śarvāya dayāmayāya)

Thou art Swan, the ideal discriminator,
Śarva, the dispeller of duality and compassionate
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

२८. द्वैतेन्धनदाहक पावकाय

(Dvaitendhanadāhaka pāvakāya)

Purifying Fire which burns up the fuel of duality
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

२९. मान्याय गण्याय सुभूषणाय

(Mānyāya gaṇyāya subhūṣaṇāya)

Worthy of respect and recognition,
Adorned with all attributes Thou art
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

३०. शक्तिशरीराय परभैरवाय

(Śaktiśarīrāya parabhairavāya)

Supreme Bhairava, with Sakti comprising Thy body
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

३१. दानप्रवीराय गतमदाय

(Dānapravīrāya gatamadāya)

Hero among the givers, yet devoid of any pride
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

३२. मतेरगम्याय परात्पराय

(Materagamyāya parātparāya)

Beyond comprehension, transcending the highest
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

३३. धर्मध्वजायाति शुभङ्कराय

(Dharmadhvajāyāti śubhankarya)

The insignia borne on the banner of dharma,
harbinger of beneficence
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

३४. स्वामिन् गौतम गोत्रोद्भवाय

(Svāmina goutama gotrodbhavāya)

Belonging to the lineage of Svāmin-Gautama
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

३५. मन्दस्मितेनाति सुखप्रदाय
(*Mandasmitenāti sukhapradāya*)

With Your gentle smiles you cause profound joy
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

३६. यज्ञाय यज्याय च याजकाय
(*Yajñāya yajyāya ca yājakāya*)

The sacrificial fire, the sacrificial offering and the sacrificer [all comprise you]
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

३७. देवाय वन्द्याय भवप्रियाय
(*Devāya vandyāya bhavapriyāya*)

Thou art Supreme deity, worshipped by Devas, dear to the world
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

३८. सर्वत्र पूज्याय विद्याधराय
(*Sarvatra pūjyāya vidhādharāya*)

Worthy of worship everywhere, possessor of knowledge supreme
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

३९. धीराय सौम्याय तन्त्रात्मकाय
(*Dhīrāya Soumyāya tantrātmakāya*)

Prudent, delightful, embodiment of Tantras
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

४०. मन्त्रात्मरूपाय दीक्षाप्रदाय
(*Mantrātmarūpāya dīkṣāpradāya*)

Embodiment of the spirit of Mantras, being bestower of unique initiation
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

४१. संगीतसाराय गीतिप्रियाय
(*Saṁgītasārāya gītipriyāya*)

The essence of music, The enjoyer of poetry
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

४२. प्रत्यक्षदेवाय प्रभाकराय

(Pratyakṣadevāya prabhākarāya)

Directly perceivable Lord, O Sun
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

४३. अनघाय अज्ञान विध्वंसकाय

(Anaghāya ajñāna vidhvamsakāya)

O sinless One, Dispeller of ignorance
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

४४. सिद्धिप्रदाय बन्धुरर्चिताय

(Siddhipradāya bandhurarcitāya)

Bestower of success, adored by kinsmen
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

४५. अक्षरात्मरूपाय प्रियव्रताय

(Akṣarātmarūpāya priyavratāya)

Spirit of the Alphabet, Votary of disciplines
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

४६. लावण्यकोषाय मदनान्तकाय

(Lāvaṇyakoṣāya madanāntakāya)

Treasure of Charming beauty but, Destroyer of Cupid (God of love)
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

४७. अमितायानन्ताय भक्तप्रियाय

(Amitāyānantāya bhaktapriyāya)

Immeasurable, Infinite, yet attainable by devotees
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

४८. सोऽहंस्वरूपाय हंसात्मकाय

(So'hamsvarūpāya hamsātmakāya)

Having the form of Hamṣa i.e. inhailing and exhaling breath, you are so,ham (I am He) personified
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

४९. उपाधिहीनाय निराकुलाय

(Upādhihīnāya nirākulāya)

Transcending all attributes, defying classification or devoid of Māyā Thou art
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

५०. राजीवनेत्राय धनप्रदाय

(Rājīvanetrāya dhanapradāya)

Lotus-eyed, Bestower of all prosperity
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

५१. गोविन्दरूपाय गोपीधवाय

(Govindarūpāya Gopīdhavāya)

Like Govinda, You entice[1] the Gopis
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

५२. नादस्वरूपाय मुरलीधराय

(Nādasvarūpāya murlīdharāya)

Of the nature of Nada,[2] Holder of the flute Thou art
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

५३. बिसतन्तु सूक्ष्माय महीधराय

(Bisatantu sūkṣmāya mahīdharāya)

Subtler than the thinnest cord running through the lotus stalk, yet strong enough to hold the earth or yet strong enough like a mountain
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

५४. राकेन्दुतुल्याय सौम्याननाय

(Rākendutulyāya soumyānanāya)

Like the bright fullmoon, Your face resplendent shines beautiful,
To seek thy favour, O Guru Lakṣmaṇa Joo, I offer my obeisance to you.

(to be continued)

---

1. Lord Krishna would make the Gopis run after Him in sport.
2. The Primal Sound.

Think over it

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।
यदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा॥

The universe which has come out of myself will dissolve itself in me alone, even as a pot dissolves itself in earth, waves in water, a bracelet in gold.

प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहंततः।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाहंभास एव हि॥

'Prakāśa' is my real form; I am not anything other than this. When this whole world manifests itself, it is I alone shining as such.

आत्माज्ञानात् जगत् भाति
आत्म ज्ञानात् न भासते।
रज्ज्वज्ञानात् अहिर्भाति
तत् ज्ञानात् भासते नहि॥

This universe appears because of the ignorance of the self. When there is self knowledge, it does not appear; because of the ignorance of the rope, the snake appears; the snake disappears when the rope is known.

यथा न तोयतो भिन्नास्तरंगाः फेन बुद्बुदाः।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम्॥

Even as the waves, foam and bubbles are not different from water, the universe which is expressed by the self is not different from it.

एकं सर्वगतं व्योम बहिरन्तर्यथा घटे।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा॥

Just as all pervading sky is one outside and inside the jar; similarly the eternal indivisible Brahman exists in all beings.

तन्तुमात्रो भवेदेवं पटो यत् वत् विचारतः।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तत्वत् विश्वं विचारितम्॥

Just as when carefully analysed, cloth is found to be nothing but threads, so this whole world, when properly investigated is found to be nothing but the being of the Atman.

(Gems from Aṣṭāvakra Gītā)

विज्ञानभैरव—समीक्षात्मक अध्ययन

VI

मूल प्रवचनकार–

शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

(गतांक से आगे)

तयापूर्याशु मूर्धान्तं भङ्क्त्वा भ्रूक्षेप सेतुना।
निर्विकल्पं मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः॥ ३१॥

(*अन्वय*– तया आशु मूर्धान्तं आपूर्य, भ्रूक्षेपसेतुना भङ्क्त्वा, मनः निर्विकल्पं कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद् गमः (स्यात्)॥ ३१॥

जन्माग्र आदि बारह चक्रों का भेदन करने वाली उस प्राणशक्ति से ब्रह्मरन्ध्र को शीघ्रता से भरकर, फिर उस ब्रह्मरन्ध्र को भ्रूभेदन क्रम से, सेतु (पुल) के द्वारा नदी को पार करने की तरह, पारकर, उसके पश्चात् मन को निर्विकल्प बनाकर, सबसे ऊपर वाले स्थान परमाकाश में योगी सर्वव्यापक बन जाता है॥

यह अक्रम आणवोपाय की विधि है। पिछले श्लोक 'क्रमद्वादशकं सम्यग्' आदि में निर्दिष्ट विधि सक्रम विधि थी।

तया– उस प्राणशक्ति से अपनी देह को यथाशक्ति भरना है। फिर 'भ्रूक्षेप सेतु' अर्थात् भ्रूभेदन क्रम से प्राणसंचार को स्थगित कर। भ्रूभेदन क्रम का तात्पर्य है कि भ्रूमध्य में ध्यान धरना है अर्थात् भ्रूमध्य में एकाग्रता को अपनाना है।

मूर्धान्तं आपूर्य– द्वाद्वशान्त अथवा ब्रह्मरन्ध्र को भरकर। जब हम अन्दर और बाहर सांस लेते हैं भ्रूमध्य में एकाग्रता को अपनाये हुए, तो फिर क्या होता है कि हम सारे शरीर को प्राणशक्ति से ब्रह्मरन्ध्र तक भर लेते हैं।

भङ्क्त्वा– ऐसा होने के पश्चात् प्राणशक्ति का संचार कुछ क्षणों के लिए स्थगित होता है, और **निर्विकल्पं मनः कृत्वा**– हमारा मन संपूर्ण रूप से संकल्प विकल्पों से शून्य होता है।

सर्वोर्ध्वे– सबसे ऊपर वाली भगवान् शंकर की इस स्थिति में।

सर्वगोद् गमः— सर्वव्यापकता चारों ओर प्रकाशित होती है अर्थात् वह उस सर्वोच्च दशा में सर्वव्यापकता का अनुभव करता है।

स्वामीजी महाराज कहते हैं कि इसे शांभवोपाय दशा नहीं समझना। यह आणवोपाय विधि है क्योंकि हमें प्राणशक्ति का सहारा लेना पड़ता है। प्राणोपासना का सम्बन्ध आणवोपाय से ही है। इसे शाक्तोपाय नहीं समझना। शांभवोपाय भी यह नहीं है। 'व्यापिनी' स्थिति इसे कहा जा सकता है क्योंकि इसमें अन्ततः सर्वव्यापकता का अनुभव होता है।

कुम्भकावस्था इसे नहीं समझना, क्योंकि हमें एकाग्रता से प्राण संचार को रोकना है, निरोध से नहीं। यदि निरोध से प्राण संचार रोकते तो यह कुम्भकावस्था होती। यह अवस्था तब होगी जब एकाग्रता पूरी तरह से आयेगी। यह केवल धारणा नहीं है अपितु समाहितता है। प्राणोपासना के ही कारण यह स्थिति आणवोपाय के अन्तर्गत आती है।

स्वामी जी कहते हैं कि प्राणापान के बीच के प्रदेश को आकाश कहते हैं। आकाश का सम्बन्ध शाक्तोपाय से है क्योंकि वहां प्राणापानाभाव है। या यूं कहिये कि आधार आणवोपाय है जो शाक्तोपाय की ओर अग्रसर है। जब केवल शून्यता हो तो उसी पर एकाग्र होना चाहिए। वही शाक्तोपाय है। ज़ब एकाग्रता प्राण संचार पर हो तो वह आणवोपाय है। जब केवल समाहितता हो एकाग्रता की, धारणा की नहीं तो वह शाम्भवोपाय है।

किसी शिष्य के पूछने पर कि तन्त्रालोक के छठे आह्निक में आचार्य अभिनवगुप्त ने कुण्डलिनी का जो वर्णन किया है वह किस प्रकार की विधि को अपनाने का आदेश देते हैं? स्वामी जी महाराज इस पर कहते हैं कि वह विधि अलग है और यह विधि अलग है। विज्ञान भैरव में एकाग्रता पर बल दिया गया है। भ्रूभेदन क्रम की महत्ता को विशेष रूप से यहां अपनाया गया है। इसीलिए इस धारणा में 'भ्रूक्षेपसेतुना' का प्रयोग किया गया है। इसे 'सेतु' इसलिए कहा गया है क्योंकि यह 'भ्रूभेदन' प्राणसंचार का विराम है। यह प्राणवायु को आगे चलने से रोकता है॥

शिखिपक्षैश्चित्ररूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम्।
ध्यायतेऽनुत्तरे शून्ये प्रवेशो हृदये भवेत्॥ ३२॥

(*अन्वय*— शिखिपक्षैः चित्ररूपैः मण्डलैः शून्यपञ्चकं हृदये ध्यायतः अनुत्तरे शून्ये प्रवेशः भवेत्)।

चित्र विचित्र रंगों से शोभायमान बने मोर के पंखों के समान पांच इन्द्रियों के विषयों के स्थान पर पांच शून्यों की भावना करने पर योगी का परमशून्य हृदय में समावेश हो जाता है॥

शिखिपक्षैः– मोर के पंखों के समान, जो अनेक प्रकार के रंगों से चित्रित हैं।

चित्ररूपैः– चित्र-विचित्र रूपों से।

मण्डलैः– पांच प्रकार के तन्मात्रों से। पांच ज्ञानेन्द्रियां मोर के पंखों के समान विचित्र हैं। जब ये पांच इन्द्रियां अपने अपने विषयों के स्थानों की ओर केन्द्रित की जाती हैं तो हमें यह ध्यान करना है कि ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्र अपने अपने विषय का रसास्वादन करने पर शून्य स्वरूप हैं, इनमें कुछ विशेष बात नहीं हैं। अपनी चेतना को इन तन्मात्रों के विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होने देना चाहिए। केवल यह समझना चाहिए कि यह इनका आभास स्वरूप है।

शून्यपंचकं– पांच शब्द स्पर्शादि विषय शून्य रूप से अवस्थित।

ध्यायतः– इस पंचक पर हमें इसी शून्य रूप में ध्यान करना चाहिए।

अनुत्तरे हृदये प्रवेशो भवेत्– इसके परिणामस्वरूप योगी, सर्वोत्कृष्ट हृदय में, जो संपूर्णरूपेण शून्य है, प्रवेश करता है। सर्वोत्कृष्ट हृदय तो परम शिव ही है। यह शुद्ध शाक्तोपाय है।

हमें कान नाक आदि ज्ञानेन्द्रियों से कुछ नहीं महसूस करना है। केवल अपने-अपने विषयों को अपने-अपने इन्द्रिय से ग्रहण करना है।

हमें एक साथ इन पांचों शब्दादि पर दत्तचित्त होना चाहिए और यह अनुभव करना चाहिए कि ये केवल शून्यस्वरूप हैं और कुछ नहीं। हठपूर्वक इन पर यह धारणा लगानी चाहिए कि ये विषय कुछ भी नहीं। जो कुछ मैं देखता हूं, सुनता हूं, रसास्वाद करता हूं, सूंघता हूं, स्पर्श करता हूं, यह कुछ भी नहीं अपितु शून्यस्वरूप है। यह प्रक्रिया यौगपदिक है। इन पांचों पर एक साथ जुटना है तब कहीं हम परमशिव में प्रवेश कर सकते हैं।

स्वामी जी कहते हैं कि शून्य स्वरूप समझने का तात्पर्य चित्तवृत्ति या परिग्रह से नहीं है क्योंकि इन्द्रियों को इन तन्मात्रों से मोड़ना नहीं है अपितु इन पांच विषयों को परे रखकर इनका आभास शून्य स्वरूप समझना है।

'रथ्यां गमने तृणपर्णादिवत्' अर्थात् रास्ते में चलते-चलते नज़र में आये घास के तिनके आदि या पत्तों आदि की तरह इनके प्रभाव से अप्रभावित रहना है।

ईदृशेन क्रमेणैव यत्र कुत्रापि चिन्तना।
शून्ये कुड्ये परे पात्रे स्वयं लीना वर प्रदा॥ ३३॥

(*अन्वय*– ईदृशेन क्रमेणैव यत्र कुत्रापि, शून्ये, कुड्ये परेपात्रे चिन्तना स्वयं लीना (सती) वरप्रदा भवति)॥ ३३॥

इसी क्रम से (अर्थात् जन्माग्र आदि बारह चक्रों का भेदन करने वाली प्राणोपासना से) किसी को छोड़ने या पकड़ने से, अथवा जहां कहीं भी, अपने शरीर के अतिरिक्त दूसरे के शरीर में या आकाश (शून्य) दीवार, या पात्र में, या निर्मल मन वाले शिष्य के मन में चिन्तन क्रिया से दृढ़तर अभ्यास करने के फलस्वरूप साधना करने वाले की स्मृति स्वयं लीन होकर वर देने वाली बन जाती है॥

ईदृशेन क्रमेणैव– इस उपाय को अपनाने रूप क्रम से,

चिन्तना– एकाग्रचित्त से किया गया विचार,

यत्रकुत्रापि– जहां कहीं आप एकाग्रचित्त से या समाहितता से अपना ध्यान केन्द्रित करोगे। चाहिए आप शून्यस्वरूप पर, या दीवार पर, या अपने प्रिय शिष्य पर ध्यान केन्द्रित करो।

परे– इस का तात्पर्य केवल निर्मल ही नहीं है जैसाकि विज्ञानभैरव के टीकाकार शिवोपाध्याय ने किया है इसका तात्पर्य मलिन भी है। अतः **परे पात्रे** का अर्थ है कोई भी शिष्य चाहे वह निर्मल हो या मलिन हो।

स्वयं लीना वर प्रदा– भगवान् शंकर की शक्ति का विकास उसी समय होता है। शून्यस्वरूप में प्रकट हुई यह शक्ति, जो अभ्यास का विषय बनी हो, वर देने वाली होती है। यह उस दीवार पर भी प्रकट होती है जहां एकाग्रता केन्द्रित हुई हो। यह एक शिष्य के निर्मल हृदय में भी जन्म लेती है और वह शिष्य तत्काल प्रकाशमान बन जाता है।

संकेतानादरे शब्द, निष्ठमामर्शनं पथि।
तदादरे तदर्थस्तु चिन्तेति परिचर्च्यताम्॥

जब संकेत को एक ओर किया जाता है हम उस शब्द पर आमर्शन करने बैठते हैं तो वह ध्यान बन जाता है। उसे बनाये रखने के लिए हमें उस एकाग्रता पर ही ध्यान देना है वही चिन्तना है जो ध्यान से कहीं अधिक सूक्ष्म है। यह नहीं समझना चाहिए कि ध्यान में एकाग्रता वही है अपितु ध्यान और चिन्तना दोनों में एकाग्रता है। पर ध्यान स्थूल है जबकि चिन्तना अधिक सूक्ष्म है। इससे अधिक किसी दूसरे को हम सूक्ष्म की संज्ञा नहीं दे सकते हैं।

शून्ये– हम आकाश के शून्य स्वरूप पर इस एकाग्रता की धारणा बनाये रख सकते हैं।

कुड्ये– या किसी दीवार पर।

यह शाक्तोपाय विधि है। क्योंकि किसी वस्तु पर हमें धारणा देनी है। यह आवश्यक नहीं कि हम मन्त्रोच्चार करें, प्राणोपासना करें या अन्य किसी उपाय का सहारा लें। अतएव यह शाक्तोपाय है शांभवोपाय नहीं॥

कपालान्तर्मनोन्यस्य तिष्ठेन्मीलित लोचनः।
क्रमेण मनसो दार्ढ्यात् लक्षयेत् लक्ष्यमुत्तमम्॥

(*अन्वय*–कपालान्तः मनोन्यस्य मीलित लोचनः तिष्ठेत्, क्रमेण मनसो दार्ढ्यात् उत्तमं लक्ष्यं लक्षयेत्॥)

शिरः कपाल के भीतर विद्यमान छिद्र में अपने मन को स्थापित कर, आंखें मूंदकर निश्चेष्ट रहते हुए क्रमशः मन की दृढ़तासे योगी उत्तम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है॥

तिष्ठेत् मीलित लोचनः– हमें आंखें मूंदकर विशेष मुद्रा में बैठना चाहिए।

कपालान्तर्मनो न्यस्य– अपने मन को कपाल के भीतर अर्थात् कपाल के भीतर विद्यमान छिद्र में स्थापित करे। पर आपने देखना है कि कपाल के इर्दगिर्द अग्नि चारों ओर चमकती है वास्तव में कपाल के शून्य में दहकती आग है। आग की लपटें हैं। इस प्रकार से विचार करके

क्रमेण– क्रम से,

मनसो दार्ढ्चात्– जब मन पूरी तरह से इस विधि से सुदृढ़ होता है

लक्षयेत्– भांप ले

उत्तमं लक्ष्यम्– सर्वोच्च लक्ष्य को अर्थात् भगवान् शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति को।

यह उपाय भी शाक्तोपाय के अन्तर्गत है। इस धारणा में अग्नि का जो उल्लेख किया गया है वह ऊर्ध्वकुण्डलिनी की ओर संकेत है। यही चित्प्रकाश है।

लक्ष्यं उत्तमम् का अर्थ विज्ञानभैरव के टीकाकार शिवोपायध्याय के अनुसार यह है कि उस साधक को सारे सिद्धों गुरुओं आदि का दर्शन होता है। पर शैवी विचारधारा के

अनुसार यह अर्थ अनुकूल नहीं दिखता। लगता है कि वेदान्त दर्शन की ओर अधिक झुकाव होने के कारण ही टीकाकार ने ऐसा अर्थ किया है। स्वामी जी महाराज कहते हैं कि शैवी विचारधारा के अनुसार "लक्षयेत् लक्ष्यं उत्तमम्" का अर्थ यह है कि परमशिव का साक्षात्कार उसे होता है।

(क्रमशः)



On Meat Eating

Is Human belly a graveyard where you bury the dead animals?

Nature has provided enough to sustain life, first finish it and then shed the blood of innocents.

(K.L. Kaul)
Chandigarh.

श्री गुरुवर्य का उपदेशामृत

सुश्री प्रभादेवी

गतांक से आगे–

श्रावण मास की 'मालिनी' में हमने तन्त्रालोक के पांचवें आह्निक के ७८वें श्लोक तक प्रसंग छेड़ा था। यहां ७९वें श्लोक से आगे कतिपय श्लोकों का विवरण दे रहे हैं। इनकी व्याख्या स्वयं गुरुदेव ने की है अतः उनके वचनामृत का पान सभी रसिक पाठक करें इसी लक्ष्य से यह लेख लिख रहे हैं। सो ध्यानपूर्वक पढ़िये तथा मनन करिये–

अन्तर्बाह्ये द्वये वापि
सामान्येतरसुन्दरः।
संवित्स्पन्दस्त्रिशक्त्यात्मा
संकोचप्रविकासवान्॥ ७९॥ तं०, ५ आ०

प्रश्न उपस्थित होता हैः–प्रकाश की अपेक्षा भला विमर्श की ही प्रधानता क्यों मानी गई है। इस शंका का परिहार करते हुए कहते हैं–प्रकाश का जो विमर्श है वह आन्तर रूपता से, बाह्य रूप से तथा अन्तर्बाह्य रूप से सामान्य तथा विशेष रूप से सुन्दर होने के कारण तीन शक्तियों से युक्त होकर ही संकुचित जगत् में विकसित होता है। सच तो यह है–केवल मात्र प्रकाश में उतनी सत्ता टिकाव की नहीं है जितनी विमर्श की मानी गई है। विमर्श की सत्ता से ही प्रकाश की प्रकाशता अवस्थित है। इसी विमर्श में अन्तस्थित में इच्छा, अन्तर्बाह्य में ज्ञान और बाह्य में क्रिया शक्ति का स्फार निहित है। इसी को दूसरे शब्दों में अन्तः को परप्रमाता रूप शिव-तत्त्व अर्थात् अहम्, अन्तर्बाह्य को शुद्धविद्या तत्त्व अहमिदम् तथा बाह्य, जिस में सभी भेदवर्ग का विकास होता है जिसे माया कहते हैं, इसका परामर्श इदम् है। इन्हीं तीनों के समष्टीकरण विमर्श में ही वास्तविक विश्रान्ति प्राप्त होती है। यही तथ्य विश्रान्ति-स्थान है।

अब ऊपर वर्णित श्लोक को समक्ष रखकर प्रश्नकर्त्ता कहता है–जब संवित् के तीन रूप–आन्तरता, आन्तर्बाह्यता और बाह्यता माने गए तो यह जड मानी जायेगी। इसे संकोच तथा विकास से युक्त मानने पर इसे विश्रान्ति का स्थान कैसे मानें।

इस शंका की निवृत्ति भगवान् अभिनव जी यह कह कर करते हैं–इस संवित् का संकोच तथा विकास भी उसके स्वातन्त्य का ही परिचायक है। संवित् ही अपनी इच्छा से

जड रूप बनकर विश्रश्वाकार रूप में अवस्थित है। इसकी व्याख्या करते हुए महाराज जी ने कहा—वेदान्त-प्रक्रिया में भी कहा है—

"तत् सृष्ट्वा तदैव अनुप्राणनम्।"—जिस भी पदार्थ की रचना हुई उसमें स्वयं प्रभु अवतरित हुए और उसी रूप में ठहरे।

अब प्रश्न यह है—जब तथ्य रूप से संकोच और विकास का कोई मुख्य प्रयोजन ही नहीं है तो संवित् में इसको लागू करने का तात्पर्य क्या है—इस शंका का मूल रहस्य भगवान् अभिनवगुप्त जी समझाते हैं—इस रूप को दिखाने में अति रहस्य प्रक्रिया का समावेश है। बाह्यता को दिखाने से ही आन्तरता का वैभव अनुभव में आता है। यह न केवल व्यापक रूप से शिव के लिए ही बात लागू होती है अपितु साधना पक्ष में भी योगी जब इस धारणा का अभ्यास करते हैं यानी बाह्य-दृष्टि से युक्त योगी जब तथ्य रूप से आन्तरिक संवित् की ओर ही मन को लगाये रहते हैं तो वह परमपद को प्राप्त करते हैं। इस कथन का समर्थन निम्न श्लोक कर रहा है—

असंकोचविकासोऽपि
तदाभासनतस्तथा।
अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः
परमं पदमश्नुते॥ ८०॥ तं०, ५ आ०

हमारे आराध्यदेव गुरुप्रवर ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा—सच तो यह है—शरीर की उपाधि से ही बाहर तथा अन्तर का आभास होता है। स्पन्दशास्त्र में भी कहा है—किसी अनुभव की दशा में बाहर निकलना ही प्रवेश है और अन्दर जाना ही विकास है। अतः बाहर अन्दर की कलना कल्पना मात्र है। वेदान्त भी कहता है—अस्तिता, भातिता तथा प्रियता तो शिवभाव में है और इधर नाम और रूप माया में है। इधर साधना पक्ष में भी स्वरूप-निष्ठ बनने के लिए मुमुक्षु को जान-बूझकर माया में प्रवेश करना पड़ता है, उस संवित्-धाम की तह का अनुभव करने के लिए।

यह वचनामृत कहकर महाराज जी ने तनिक गंभीर होकर कहा—हमारे परमगुरु श्रीराम जी ने एक बार अपने सत् शिष्यों से पूछा—बताओ इच्छोपाय, ज्ञानोपाय तथा क्रियोपाय, इन तीन में से किस उपाय का अभ्यास करने से मुमुक्षु को पार्यन्तिक संवित्-धाम का साक्षात्कार हो सकता है—तब सभी शिष्यों ने एक स्वर में कहा—इच्छोपाय ही सिद्धि-प्रद है। उत्तर सुनकर श्रीराम जी ने उन्हें समझाते हुए कहा—तथ्य सिद्धि तो क्रियोपाय—क्रिया शक्ति 'औकार' में प्रविष्ट होने से प्राप्त होगी। इस उपाय में निष्णात बनकर साधक को फिर

च्युत होने की संभावना नहीं रहती। अपने परमगुरु श्रीराम जी का उपदेश कहने के बाद महाराज जी ने हमें कहा—इस क्रियोपाय की प्रखर धार पर ठहरना प्रबुद्ध योगी का ही काम है। साधारण साधक तो इस अभ्यास का सेवन करने से अधोगति को ही प्राप्त होगा। अतः तुम्हारे गुरुदेव ने जो अभ्यास तुम्हें करने के लिए कहा है उसका पालन नियम-पूर्वक श्रद्धा, प्रेम, भक्ति तथा उत्साह से करना चाहिये, तभी तुम्हें आत्मिक लाभ होगा।

आगे भगवान् अभिनव जी कहते हैं—

ततः स्वातन्त्र्यनिर्मेये
विचित्रार्थक्रियाकृति।
विमर्शनं विशेषाख्यः
स्पन्द औन्मुख्य संज्ञितः॥ ८१॥

स्वातन्त्र्यशक्ति द्वारा निर्मित घट, पट आदि सभी भाव-वर्ग में अनेकानेक कार्यों को सिद्ध करने वाला विमर्श ही स्पन्द कहलाता है, इसी को औन्मुख्य भी कहते हैं।

इस भाव को स्पष्ट करते हुए श्री ईश्वर-स्वरूपजी महाराज ने कहा—सजग साधक संवित् का परामर्श न केवल आंखें मूंदकर ही करता है अपितु प्रत्यक्ष रूप से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध एवं सभी घट, पट आदि वस्तु समुदाय के हानादान क्रिया के प्रथमाभास में ही करता रहता है। इस स्थिति को ही "संवित् औन्मुख्य" कहते हैं।

आगे फिर कहते हैं—

तत्र विश्रान्तिमागच्छे-
द्यद्वीर्यं मन्त्रमण्डले।
शान्त्यादिसिद्धयस्तत्त
द्रूपतादात्म्यतः यतः॥ ८२॥

उस विशेष प्रथमाभास रूप संवित् औन्मुख्य में विश्रान्ति को प्राप्त करके जो मन्त्र-मंडल यानी सम्पूर्ण शब्दों का जो तात्त्विक वीर्य है—दूसरे शब्दों में वैखरी वाणी को पश्यन्ती दशा में अनुभव करना ही मन्त्र का वीर्य कहलाता है, उस अवस्था में स्थिति प्राप्त करने से महाशान्ति, महाधृति तथा महापुष्टि की सिद्धि प्राप्त होती है। भाव यह है—सभी घट, पट आदि वस्तु-वर्ग तथा शब्दादि मंत्र-वर्ग के साधक को तथ्य संवित् स्वरूप से तादात्म्य हो जाता है।

महाराज जी ने इस श्लोक को पढ़ाने के बाद आह्लादित होकर कहा—न केवल मंत्र, लिपि-संप्रदाय को ही कहते हैं बल्कि सम्पूर्ण शब्द-संसार मन्त्र कहलाता है। तभी तो सभी जागतिक व्यवहार सुचारु रूप से चल रहा है।

इस अगले श्लोक को समझाने से पूर्व श्रीगुरुदेव ने कहा—इन्द्रियां दो प्रकार की हैं—एक तो ज्ञानेन्द्रिय और दूसरी कर्मेन्द्रिय। ज्ञानरूप इन्द्रिय को बोधरूप-बुद्धिरूप इन्द्रिय कहते हैं और कर्मेन्द्रिय को स्वातन्त्र्य रूप कहा गया है। तात्पर्य यह है—संवित्-साक्षात्कार होने पर यही ज्ञानेन्द्रियां बोधरूप हो जाती हैं और कर्मेन्द्रियां स्वतन्त्रता का रूप धारण करती हैं। भगवान् अभिनवगुप्त जी इसी आशय को निम्न श्लोक में प्रकट करते हैं:—

दिव्यो यश्चाक्षसंघोऽयं
बोध स्वातन्त्र्यसंज्ञकः।
सोऽनिमीलित एवैतत्
कुर्यात्स्वात्ममयं जगत्॥ ८३॥

यश्च अयं अक्षसंघः दिव्यः (सः) बोध स्वातन्त्र्य संज्ञकः। सः बहिः अनिमीलितो व्यापृत एव सन् भैरवमुद्रानुप्रवेश क्रमेण एतत् जगत् स्वात्ममयं कुर्यात् संवित् मात्रसारतया परामृशेदित्यर्थः।

इस श्लोक की अवतरणिका में टीकाकार जयरथ जी कहते हैं—इस सजग योगी को यह संवित्तादात्म्य न केवल प्रमेय दशा में ही होता है अपितु प्रमाण दशा में भी। इन्द्रियां भी इसकी परिमितता को भूलकर विकसित ज्ञान तथा स्वातन्त्र्य शक्ति में परिवर्तित हो जाती हैं।

यह सीमित इन्द्रियों का समूह दिव्यरूप धारण करके बोध तथा स्वातन्त्र्य युक्त बन जाता है। इस भांति अनिमीलित दशा यानी व्यवहार दशा में रहकर ही वह योगी जगत् को स्वात्ममय बनाता है।

इस श्लोक को आनन्दपूर्वक पढ़ाने के बाद ईश्वर-स्वरूप जी महाराज ने समझाते हुए कहा—वह योगी बाहर से तो इलायची चबाता हुआ, दर्शकों को दिखता है, किंतु वह अलौकिक संवित्-धाम में टिककर ही उस इलायची का रसावादन करता है। इसी भांति उसका सभी कार्य-कलाप स्वात्मानन्द से पूरित होता है।

जय गुरुदेव

(शेष अगले अंक में)



भगवत्कृपा – एक विचित्र रहस्य

श्री जानकीनाथ कौल 'कमल'

भगवत्कृपा अहैतुकी है, अनर्गल है, अकस्मात् है। 'यह किस पर होती है, कैसे होती है, कब होती है और कहां पर होती है?' इस विषय में मनुष्य-मात्र की अल्प-बुद्धि कुछ निश्चय नहीं कर पाती। यह निश्चय तो सूक्ष्म बुद्धि के तर्क से भी परे है। एक पत्थर तोड़ने वाला मज़दूर यह नहीं जानता कि वह किस पत्थर को कैसे, कब और किस स्थिति में तोड़ डालेगा। वह अपना हथोड़ा पत्थर पर मारता जाता है और यह निश्चय नहीं रख सकता कि कितनी बार मारने से पत्थर टूट जायेगा। कभी पहली, दूसरी या तीसरी बार ही हथौड़ा मारने से पत्थर टूट जाता है परन्तु कई बार खून-पसीना एक करके मारने से भी पत्थर टूटता नहीं। यही हाल साधक के लिए भगवत्कृपा के पुण्यातिपुण्य अवसर का है। इस विषय में समय का निर्धारण करना असम्भव है। इसके लिए साधक का समयातीत बनना आवश्यक है।

कठोपनिषद् में नचिकेता की कथा है। उद्दालक ऋषि ने फल की कामना से विश्वजित् यज्ञ किया था। सर्वस्व का दान करते हुए नियमानुसार जब दक्षिणा के रूप में देने के लिए गौएं लाई जा रही थीं, उस समय बालक नचिकेता ने उनको देख लिया। कुछ गौएं शक्तिहीन, निरर्थक और मृत्यु के समीप पहुंची हुई थीं। उनकी दयनीय दशा देखते नचिकेता के निर्मल अन्तःकरण में विचार उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा कि दुःखदायिनी अनुपयोगी वस्तुओं को दान के नाम पर देना तो दान के व्याज से अपनी विपद् टालना है और दान ग्रहण करने वालों को धोखा देना है। इस अनिष्टकारी परिणाम से अपने पिता को बचाने के लिए उसने अपना बलिदान देने का निश्चय किया। उसने पिता से कहा–

तात कस्मै मां दास्यसि।

–'पिता जी, मैं भी तो आपका धन हूँ, आप मुझे किसको देते हैं?' कुछ उत्तर न मिलने पर उसने दूसरी और तीसरी बार भी अपना प्रश्न दोहराया। ऋषि को क्रोध आ गया और उन्होंने आवेश में आकर कहा–

मृत्यवे त्वां ददामि।

–'तुझे मृत्यु को देता हूँ।' बस यही नचिकेता पर भगवत्कृपा का आरम्भ था। अन्त में जब वह तीन दिन यमराज की प्रतीक्षा में यमसदन में अनशन किये बैठा तो भगवत्कृपा

उस पर अवतीर्ण हुई। वह समय का ज्ञान कर चुका था। यमराज ने उस की संयत स्थिति के अनुसार ही नचिकेता को उपदेश देते हुए कहा—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥

(कठोपनिषद् १, ३, ८)

'परन्तु जो सदा सावधान (aware) होकर अपनी बुद्धि को निरन्तर विवेकशील बनाये रखता है और उसके द्वारा मन को रोक कर पवित्र भाव में स्थित रहता है तथा भगवान् को अर्पण किए हुए भोगों का राग-द्वेष से रहित हो निष्कामभाव से शरीर-निर्वाह के लिए उपभोग करता रहता है, वह परमेश्वर के उस परमधाम को प्राप्त कर लेता है, जहां से फिर लौटना नहीं होता।'

यमराज नचिकेता के प्रति यह बात स्पष्ट कर देता है कि परमात्मा अपने पुरुषार्थ से नहीं मिलते, अपितु उसी को मिलते हैं जिसको वे स्वीकार कर लेते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न बुध्या न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

(कठोपनिषद्, १, २, २३)

'यह परब्रह्म परमात्मा न तो उनको मिलते हैं जो शास्त्रों को पढ़-सुन कर लच्छेदार भाषा में परमात्म-तत्त्व का नानाप्रकार से वर्णन करते हैं, न उन तर्कशील बुद्धिमान् मनुष्यों को ही मिलते हैं जो बुद्धि के अभिमान में प्रमत्त हुए तर्क के द्वारा विवेचन करके उन्हें समझाने की चेष्टा करते हैं, और न उनको ही मिलते हैं जो परमात्मा के विषय में बहुत कुछ सुनते रहते हैं। वे तो उसी को प्राप्त होते हैं, जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और वे स्वीकार उसी को करते हैं जिसको उनके लिए उत्कट इच्छा होती है, जो उनके बिना रह ही नहीं सकता।'

भगवत्कृपा का प्रसाद शुकदेव को तभी प्राप्त हुआ था जब वह राजा जनक के प्रासाद के द्वार पर सात दिन की प्रतीक्षा करता रहा। भगवत्कृपा उन पर तभी प्रकट हुई जब राजा जनक का महल जलने लगा था और शुकदेव अपनी कौपीन को सम्हालने दौड़ा। जनक के इस वचन ने योगमाया का आवरण हटा दिया—

मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दहति किञ्चन।

–'मिथिला में आग लगने से मेरा कुछ भी नहीं जलता।' शुकदेव पर भगवत्कृपा की यही शुभ घड़ी थी जिसके लिए न शुकदेव ने कोई पुरुषार्थ किया था न जनक ने। यह एक ऐसी शुभ घड़ी है जो काल की कलना से परे है। शुकदेव जनक से आत्मानुभव पाकर कृतकृत्य हुआ।

जगत्-सृष्टि के क्रम में परमात्मा के पांच-कृत्य हैं–सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह। पिधान के कृत्य में वे 'स्वरूपगोपनव्यग्र' है अर्थात् अपने चिदात्मा रूप को छिपाने में लगे हैं। इसी कारण मूढ़-जन उसे नहीं जान पाते 'मूढोऽयं नाभिजानाति।' परन्तु विवेकशील मनुष्य के लिए 'सकृद्विभातोऽयमात्मा'–बिजली की झलक के समान परमात्मा एक क्षण में प्रकट होते हैं। यही भगवत्कृपा अर्थात् ईश्वरानुग्रह है जिसका कृपा-निर्भर साधक पर किसी भी क्षण प्रकट होना सम्भव है। कहा भी है–

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैत-वासना।
महद्भयपरित्राणा विप्राणामुपजायते॥

(अवधूतगीता, १, ९)

'ईश्वर के अनुग्रह से ही मनुष्यों में अद्वैत वासना उत्पन्न होती है जो जन्म-मरण-चक्र के महान् भय से त्राण करती है।'

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात्तत्त्वदर्शिनः।
पञ्चकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम्॥

(पञ्चदशी, २, ३२)

'पूर्व जन्मों में उपार्जित पुण्यकर्मपरिपाक से (किसी) तत्त्वदर्शी आचार्य द्वारा अपदेश पाकर पञ्चकोशविवेक होता है और इस प्रकार मोक्षरूप परम सुख को तत्त्वदर्शी प्राप्त करते है।'

यावन्नानुग्रहः साक्षाज्जायते परमेश्वरात्।
तावन्नो सद्गुरुं कश्चित् सच्छास्त्रमपि नो लभेत्॥

(योगवासिष्ठः)

'जब तक परमेश्वर से साक्षात् रूप में अनुग्रह प्रकट नहीं होता है तब तक (मनुष्य को) न कोई सद्गुरु और न कोई सत्-शास्त्र ही प्राप्त होता है।'

कश्मीर शैवदर्शन शास्त्रों में भी ऐसे प्रमाण मिलते हैं। यथा–

शक्तिपातवशाद्देवी नीयते सद्गुरुं प्रति।

(तन्त्रालोकः)

'जब विवेकशील साधक पर भगवत्कृपा का संयोग होना हो तो उसे किसी 'सद्गुरु' की शरण में जाने की प्रेरणा भगवत्कृपा से स्वयं ही होती है।' भगवत्कृपा के विषय में धर्म, जाति, लिङ्ग, देश, काल आदि का कोई भेद नहीं है।

अद्वैत-वेदान्त शास्त्र में कही हुई भगवत्कृपा अथवा ईश्वरानुग्रह को कश्मीर-अद्वैत-शैवदर्शन (त्रिकदर्शन) के अनुसार 'शक्तिपात' कहते हैं। वर्तमान काल में इस दर्शन के महामहिम तथा सुविख्यात शैवाचार्य ईश्वर स्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू सत्संग में प्रायः कहा करते थे–'शक्तिपात के विषय में कोई अधिकारी भेद नहीं है (Divine Grace is Unconditional)' यह चमत्कारी शक्ति किसी पर भी किसी समय बिजली की तरह गिरती है। और चिद्रूपता के अलौकिक आनन्द से आप्लावित करती है। शिव किसी पर भी किसी समय शक्तिपात करने में विचार ही नहीं करते।'

श्री अभिनवगुप्तपाद के परमेष्ठी गुरु श्री उत्पलदेवाचार्य ने ईश्वर से भगवत्कृपा के लिए छटपटाते हुए ही प्रार्थना की थी–

शक्तिपातसमये विचारणं
प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः
स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे।।

(शिवस्तोत्रावली, १३, १८)

'हे स्वेच्छाचारी प्रभु ! आप को तो मुझ पर शक्तिपात अर्थात् अनुग्रह करने के समय विचार करना चाहिए था कि मैं आपके अनुग्रह का पात्र हूँ या नहीं, किन्तु आप कभी ऐसा करते ही नहीं। आज मुझ पर क्या आ पड़ी है जो आप अपने चित्प्रकाश की झलक दिखाने में देर लगा रहे हैं।'

आचार्य उत्पलदेव के इसी अलौकिक ग्रन्थ का मंगलाचरण, भगवत्कृपा प्राप्त ज्ञानी-भक्त की महिमा का द्योतक है–

न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।।

(शिवस्तोत्रावली, १, १)

'जिस भगवदनुरागी भक्त को भगवान् का ध्यान करने के लिए प्रयत्न न करते हुए (क्योंकि उसको भगवदनुराग की दृढ़ता के कारण तैलधारावत् नित्य और निरन्तर, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते और सोते-जागते चित्स्वरूप में रहने का दृढ़ अभ्यास सिद्ध हुआ होता है) और ईश्वर-चिन्तनार्थ भगवत् नाम का जप न करते हुए (क्योंकि उसे पूर्वाभ्यास की दृढ़ता से ध्येयाकार वृत्ति सदा बनी रहती है अथवा परप्रमातृभाव में स्थिर रहता है)। तात्पर्य यह है कि वह प्रत्येक दशा में समाहित-चित्त हो चित्स्वरूप में लीन रहता है। उसे 'शरवत्संहितो भवेत्' अर्थात् जैसे तीर निकल कर झट निशान पर लगता है, ध्यान की ऐसी युक्ति सिद्ध हुई होती है। जो जिससे भिन्न होता है वह उसका स्मरण अथवा जप-कीर्तनादि करता है, परन्तु जिसे ध्येयाकार वृत्ति का साक्षात्कार हुआ हो वह स्वयं ध्यानरूप तथा जपरूप बना होता है। इस प्रकार जिसे अविधिपूर्वक अर्थात् वेदागम विधि-निषेध से परे होने के कारण, एवमेव अर्थात् अनेक जन्मार्जित पुण्य-पुञ्ज के कारण ईश्वरानुग्रह (शक्तिपात) से कल्याण-स्वरूप भगवान् शिव का साक्षात्कार हुआ हो, अथवा जो ज्ञानचक्षु के उन्मीलित होने के कारण स्वस्वरूपावस्थित हुआ हो, उसी भक्त शिरोमणि को हम नमस्कार करते हैं।'

अतः भगवत्कृपा एक विचित्र रहस्य है जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। यह 'स्वानुभवैकगम्य' है। सन्त तुलसी भगवान् राम से अपने आश्रम में कहते हैं–

सो जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।।

(रामचरितमानस)

यही बात किसी उर्दू के कवि ने यूं कही है–

जाहिरो-बातिन कि इकरंगी कमाले इश्क है,
नाम उसी का लब पे है, जिसकी मुहब्बत दिल में है।

(क्रमशः)

प्रस्तुत लेख स्वर्गीय श्री जानकीनाथ कौल 'कमल' ने विश्वज्योति पत्रिका के सन् १९९५ के फरवरी अंक के लिए लिखा था।



दानवीर का महा प्रस्थान



कार्तिक कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी का ब्राह्मी मुहूर्त, तदनुसार १९ अक्टूबर १९९८ की प्रभातवेला। इस प्रातःकालीन सुरम्य वेला पर यथाक्रम से अन्तःस्थिति में रहकर सदा के लिए अस्थिर संसार से श्री दीनानाथ जी गंजू, जो अपने आश्रम परिवार में 'टाठि' इस उपनाम से प्रसिद्ध थे, स्वर्ग लोक को चल पड़े।

सद्‌गरु महाराज की दया के विशेषपात्र श्री दीनानाथ जी गंजू, व्यवसाय से इंजीनियर होकर भी शैव शास्त्र के ढ़ेर सारे ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन करते रहे। परावाणी की विशेष कृपा के परिणाम स्वरूप अपनी मातृभाषा कश्मीरी में शैव शास्त्रों के कुछेक गूढ़ ग्रन्थों का पद्यात्मक अनुवाद करके इन्होंने कश्मीरी भाषा साहित्य में विशेष स्थान अर्जित किया। कश्मीरी भाषा के अनुभवी कवि होने के साथ-साथ इनका आध्यात्मिक अनुभव भी सराहनीय था।

अपने सद्‌गुरु महाराज ईश्वर स्वरूप का अन्धभक्ति से अनुसरण करने वाले श्री गंजू जी दानवीरों की सूची में उस समय उल्लेखनीय स्थान प्राप्त कर बैठे जब उन्होंने सद्‌गुरु महाराज की पुण्य स्मृति में जम्मू महेन्द्र नगर में विद्यमान अपने विशाल आवासस्थान को, विस्तृत भू-खण्ड सहित, ईश्वर आश्रम ट्रस्ट को सहर्ष सौंपा। विगत पचास वर्षों से ईश्वर आश्रम, निशात, कश्मीर के साथ सम्बद्ध श्री गंजू जी अपने सद्‌गुरु महाराज के विभिन्न मनोविकारों के प्रभाव को समय-समय पर सहर्ष स्वीकारते रहे। अबोध बालक की तरह हानि-लाभ का लेखाजोखा न रखकर गुरुचरणों की सेवा में सदा तत्पर रहे। श्री गंजू जी के निधन से समस्त ईश्वर आश्रम परिवार शोक मग्न होके सद्‌गुरु महाराज से विनम्र प्रार्थना करता है कि वे उनको सद्‌गति प्रदान करें। ईश्वर आश्रम परिवार सदा उनकी निःस्वार्थ सेवा का आभारी रहेगा और उनकी दानवीरता की सदा प्रशंसा करते रहेगा।

स्वर्गीय श्री दीनानाथ जी गंजू के शोकसंतप्त परिवार के साथ हार्दिक सहानुभूति।

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट
निशात, कश्मीर।

ISHWAR ASHRAM TRUST

(FOUNDED BY ISHWAR SAROOP SRI SWAMI LAKSHMAN JOO MAHARAJ)

ADM. OFFICE:
2-Mohinder Nagar, Canal Road,
JAMMU-180002 (J&K)

Ref. No. ....

Date : 10th September, 1998

NOTIFICATION

The Board of Trustees, in their meeting held at Srinagar on 30th/31st July, 1998 decided to amend Rule 16 (sub-para 2) of the Rules & Regulations pertaining to the Meeting/Quorum. The amended Rule shall, henceforth, be as under:-

"The Trustees may meet as often as necessary. However, three meetings shall be held in a year, as far as possible, one each at Delhi, Srinagar and Jammu. Any three Trustees present in person shall constitute the quorum. Trustees may elect one among them to chair the meeting."

By order of the Board of Trustees.

Sd/-
(I.K. Raina)
Secretary,
Ishwar Ashram Trust

Published for general information.



NEW INDIA ASSURANCE

AT HOME OR IN BUSINESS... WE KEEP YOU SAFE, SECURE AND HAPPY.

New India Assurance offers a wide range of insurance covers. That provide security in nearly every field of human activity.

From theft or burglary at home. To cargo and hull insurance in shipping. Even poultry and livestock.

At New India, providing protection has been a way of life. Backed by service that has enabled it to emerge as India's leading general insurance company.

Our insurance policies: **• Householder's • Personal Accident • Mediclaim • Overseas Mediclaim • Cancer • Machinery • Boiler & Pressure Plant • Electronic Equipment • Cold Storage • Marine (Cargo) • Hull • Shopkeeper's • Livestock & Poultry • Other Property • Horticulture • Package (agriculture)**

TOWARDS
RS. 1000
CRORE
PREMIUM

